श्री व्याख्यानसारसंग्रह पुस्तकमाला का १३ वाँ पुष्प

श्रीमज्जैनाचार्य—

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज

के

1944

व्याख्यानों में से

परिग्रह-परिमाण व्रत

सम्पादक और प्रकाशक—

श्रीसाधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज

की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम (मालवा)

मुद्रक—के. हमीरमल लूणियां

अध्यक्ष—

दि डायमण्ड जुबिली (जैन) प्रेस, अजमेर

प्रथमवार १०००　　अर्द्ध मूल्य =)॥　　सं० १९९४ वि०
वीर नि० सं० २४६३

दो शब्द

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से सम्पादित यह 'व्याख्यानसारसंग्रह पुस्तकमाला' का १२ वाँ पुष्प पाठकों के कर कमलों में पहुँचाते हुए हम बहुत प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं। यद्यपि "अपरिग्रह व्रत" या "परिग्रह-परिमाण व्रत" की व्याख्या इतनी ही नहीं है, यह विषय बहुत विशाल एवं गहन है। इसकी पूर्ण व्याख्या तो भगवान तीर्थङ्कर या उन जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं, फिर भी हम को विश्वास है कि यह पुस्तक साधु महात्माओं और श्रावक श्राविकाओं के लिए लाभप्रद ही सिद्ध होगी।

सैदापेठ मद्रास निवासी श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्रीमती रामसुखीबाई ने इस पुस्तक की छपाई आदि का आधा खर्च अपने पास से देकर सर्व साधारण के हितार्थ यह पुस्तक अर्द्ध मूल्य में वितरण कराई है। श्रीमती रामसुखीबाई की इस धर्मप्रचार की भावना से पूर्ण उदारता की हम सराहना करते हैं, और आशा करते हैं कि हमारी श्राविका बहिनें अपने द्रव्य का इसी प्रकार सदुपयोग करेंगी।

अन्त में हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि सावधानी रखने पर भी और नियमानुसार पुस्तक को कान्फ्रेन्स से सर्टीफाई कर लेने पर भी पुस्तक के सम्पादन संशोधन आदि में त्रुटि रहना सम्भव है। सुज्ञ पाठकगण ऐसी त्रुटियों से हमें सूचित करने की कृपा करें जिससे अगले संस्करण में उनको दूर किया जा सके। इत्यलम्

रतलाम
आषाढ़ी पूर्णिमा
विक्रम संवत् १९९४

भवदीय—
बालचन्द श्रीश्रीमाल, सेक्रेटरी
वर्द्धमान पीतलिया, प्रेसीडेण्ट

सैदापेठ (मद्रास) निवासी

श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी गेलड़ा

की धर्मपत्नी

सौभाग्यवती सेठानी रामसुखी बाई

की ओर से

जन साधारण की सुविधा के लिए

अर्द्ध मूल्य में

भेंट

विषय-सूची

पृष्ठाङ्क

श्रावक का

परिग्रह-परिमाण व्रत

❀ विषय-प्रवेश ❀

परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए, शास्त्रकारों ने कहा है कि 'परिग्रहणं परिग्रह'। अर्थात्, जिसे ग्रहण किया जावे, वह 'परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता है, जिससे ममत्व है। जिससे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है, उस वस्तु को ग्रहण नहीं किया जाता, न निश्चय पूर्वक पास ही रखा जाता है। इस प्रकार जिसको ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता है, वही 'परिग्रह' है।

परिग्रह का अर्थ ममत्व-भाव है, इसलिए जिनसे ममत्व-भाव है, वे समस्त वस्तुएँ परिग्रह में हैं। जिसके प्रति ममत्व-भाव होने

से जन्म-मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा को उन्नत होने से रोकता है, और जो मोक्ष में बाधक है, वह पदार्थ परिग्रह है। फिर चाहे वह पदार्थ जड़ हो, चैतन्य हो रूपी हो, अरूपी हो, और समस्त लोक ऐसा बड़ा हो, अथवा परमाणु ऐसा छोटा हो। जो क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक है, वह परिग्रह है। शास्त्रकारों का कथन है, कि ज्ञान, संसार-बन्धन से मुक्त करने वाला है, लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है, तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। धर्म-पालन के लिए शरीर का होना आवश्यक है, परन्तु यदि शरीर से थोड़ा भी ममत्व है, तो शरीर, परिग्रह है। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व-भाव है, जिससे काम क्रोध लोभ या मोह का जन्म हुआ है, वह परिग्रह है। परिग्रह आत्मा के लिए वह बन्धन है, जिससे आत्मा पुनः पुनः जन्म-मरण करता है। परिग्रह, आत्मा के लिए वह बोझ है, जो आत्मा को उन्नत नहीं होने देता और मोक्ष की ओर नहीं जाने देता।

शास्त्रकारों ने, परिग्रह के 'बाह्य' और 'अभ्यन्तर' ऐसे दो भेद किये हैं। उन्होंने, अभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व अविरति प्रमा कषाय आदि को माना है। जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मन से है, औ जिनका निवासस्थान भी मन ही है, अर्थात् जो मन अथवा हृदय ही सम्बन्ध रखते हैं और विचार रूप हैं, उन सब की गा

अभ्यन्तर परिग्रह में है। बाह्य परिग्रह के, शास्त्रकारों ने दो भेद किये हैं, 'जड़' और 'चैतन्य'। जड़ भेद में वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमें ज्ञान नहीं है किन्तु जो निर्जीव हैं। जैसे—वस्त्र, पात्र, चाँदी, सोना, मकान आदि। चैतन्य भेद में, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। यह संसार, जड़ और चैतन्य के संयोग से ही है। संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह या तो जड़ है, या चैतन्य है। इसलिए जड़ और चैतन्य भेद में संसार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं।

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान ने, कर्म, शरीर और भण्डोपकरण ये तीन परिग्रह बताये हैं। ये तीनों परिग्रह भी, बाह्य और अभ्यान्तर इन दो भेदों में ही आ जाते हैं, इसलिए इनके विषय में पृथक् कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान ने ये तीन परिग्रह सम्भवतः साधु के लिए बताये हैं। अर्थात् इस दृष्टि से बताये हैं, कि साधु के साथ भी ये तीन परिग्रह लगे हुए हैं, और जब तक साधु इन तीनों से नहीं निवर्तता, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। जो भी हो, यहां तो परिग्रह के भेद बताना है।

इस भेद-वर्णन का यह अर्थ नहीं है, कि पदार्थ ही परिग्रह है। पदार्थ, परिग्रह नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो ममत्व-भाव है,

वह ममत्व-भाव ही परिग्रह है और इस कारण जिस पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव है, औपचारिक नय से वह पदार्थ भी परिग्रह माना जाता है। क्योंकि ममत्व-भाव पदार्थों पर ही होता है, इसलिए ममत्व-भाव होने पर ही पदार्थ 'परिग्रह' है, लेकिन उस समय तक कोई भी पदार्थ परिग्रह रूप नहीं हो, जब तक कि स्वयं में उसके प्रति ममत्व भाव नहीं है। पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव होने पर ही, पदार्थ परिग्रह है।

संसार में अनेक प्राणी हैं। सब प्राणियों की रुचि एक समान नहीं है, किन्तु अलग-अलग है। एक ही योनि के प्राणियों की रुचि में भी भिन्नता रहती है, तब अनेक योनि के प्राणियों की रुचि में भिन्नता होना तो स्वाभाविक ही है। इसलिए समस्त प्राणियों को किसी एक ही पदार्थ से ममत्व नहीं होता, किन्तु किसी प्राणी को किसी पदार्थ से ममत्व होता है, और किसी को किसी पदार्थ से। यह बात दूसरी है, कि एक ही पदार्थ से अनेव प्राणी ममत्व करते हों, परन्तु सब प्राणियों का ममत्व किसी ए ही पदार्थ तक सीमित नहीं रहता, किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न एक या अनेक पदार्थ से ममत्व होता है। जिस वस्तु से नरक के जीव ममत्व करते हैं, स्वर्ग के जीव उससे भिन्न या विपरीत वस्तु से ममत्व करते हैं। यही बात अन्य योनि के जीवों के लिए भी है। मतलब यह कि योनिभेद और रुचि-भेद

के कारण किसी प्राणी को किसी वस्तु से ममत्व होता है, और किसी को किसी से। इसलिए किस योनि के जीवों को किन पदार्थों से ममत्व होता है, सब प्राणियों के विषय में यह बताना कठिन भी है और अनावश्यक भी है। यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है, वह मनुष्यों के लिए ही। अतः केवल मनुष्यों के विषय में इस बात का विचार किया जाता है, कि मनुष्यों को किन-किन पदार्थों से ममत्व होता है।

मनुष्य, बाह्य परिग्रह-युक्त भी होता है, और अभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी। अर्थात उसको मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि अभ्यन्तर विचार रूप पदार्थों से भी ममत्व होता है, और बाह्य दृश्यमान—जड़ तथा चैतन्य—पदार्थों से भी। अभ्यन्तर परिग्रह के अन्तर्गत कहे गये मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि का रूप शास्त्रों में विस्तृत रीति से बताया गया है। यदि इनके रूप और भेदोपभेद का पूर्ण विवरण यहां किया जावे, तो विषय बहुत बढ़ जायेगा। इसलिए इस विषयक वर्णन संक्षेप में ही किया जाता है।

मिथ्यात्व—जिस मोहनीय कर्म के उदय होने से आत्मा, आत्मभाव को विस्मृत होकर परभाव यानी पौद्गलिक भाव में ही रमण करे, या प्रकट में तत्वों की यथार्थ व्याख्या करके भी हृदय में विपरीत विचार रखे, वीतराग के वाक्यों को न्यूनाधिक रूप में

श्रद्धे, और अनेकान्त स्याद्वाद सिद्धान्तों को एकान्तवाद का रूप दे, इत्यादिक मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व भी परिग्रह है।

तीन वेद—आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर जिस विकृत अवस्था के प्रवाह में बहे और स्त्रीत्व पुरुषत्व या नपुंसकता को वेदे; उस अवस्था का नाम वेद है। यह तीन प्रकार का वेद भी अभ्यन्तर परिग्रह में है।

छः अवस्था—हास्यादिक छः अवस्था भी अभ्यन्तर परिग्रह में हैं। किसी के संयोग वियोग या पौद्गलिक लाभ हानि से कौतूहल पैदा होना, हास्य कहलाता है। किसी शुभ या अशुभ पदार्थ के संयोग वियोग से हर्ष या विषाद करना, रति अरति कहालाता है। किसी अप्रिय पदार्थ को देख कर डरना, भय कहलाता है। किसी प्रिय पदार्थ के वियोग से दुःखित होना, शोक कहलाता है। और प्रतिकूल तथा अरुचिकर पदार्थ से घृणा होना दुर्गछा कहलाता है। ये हास्यष्टक् भी अभ्यन्तर परिग्रह में हैं।

चार कषाय—क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय भी अभ्यंतर परिग्रह में हैं।

अभ्यन्तर परिग्रह के ये १४ भेद हैं। इन सब भेदों का सम्बन्ध केवल मन के विचारों से है, इनका बाह्य स्वरूप नहीं होता, इसीलिए इनकी गणना अभ्यन्तर परिग्रह में है।

बाह्य परिग्रह के प्रधानतः जड़ और चैतन्य ऐसे दो भेद हैं।

सुविधा की दृष्टि से शास्त्रकारों ने, बाह्य परिग्रह के इन दो भेदों को छः भागों में विभक्त कर दिया है। उनका कथन है, कि जितना भी बाह्य परिग्रह है, अर्थात् दृश्यमान जगत के जिन पदार्थों से आत्मा को ममत्व होता है, उन सब पदार्थों को छः श्रेणी में बांटा जा सकता है। वे छः श्रेणी इस प्रकार हैं—धन❀ धान्य क्षेत्र वास्तु द्विपद और चौपद। संसार का कोई भी पदार्थ-जिससे मनुष्य को ममत्व होता है—इन छः श्रेणी से बाहर नहीं रह जाता। इन छः श्रेणी में प्रायः समस्त पदार्थ आ जाते हैं। यदि चाहो, तो इन छः भेदों को भी कनक और कामिनी इन दो ही भेदों में लाया जा सकता है। जड़ और चैतन्य पदार्थ में से किन्हीं उन दो पदार्थ को, जिनके प्रति सब से अधिक ममत्व होता है, पकड़ लेने से दूसरे समस्त पदार्थ भी उनके अन्तर्गत आ जायेंगे। इसके लिए विचार करने पर मालूम होगा, कि मनुष्यों को बाह्य पदार्थों में सब से अधिक ममत्व कनक और कामिनी से होता है। कनक—अर्थात् सोना—के अन्तर्गत समस्त जड़ पदार्थ आ जाते हैं, और कामिनी—अर्थात् स्त्री के अन्तर्गत समस्त चैतन्य पदार्थ आ जाते हैं। क्योंकि, बाह्य पदार्थों में, मनुष्य को इन दोनों से अधिक किसी पदार्थ से ममत्व नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र

❀ नव प्रकार के बाह्य परिग्रह (जिसका वर्णन आगे है) में आये हुए हिरण्य सुवर्ण और कुप्य का समावेश भी धन में ही हो जाता है।

में गौतम स्वामी को उपदेश देते हुए भगवान महावीर ने भी
कहा है—

चिच्चाण धणंच भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
माव त पुंगा वि आविए समयं गोयम या पमायए ॥

अर्थात्—हे गौतम, जिस धन स्त्री को त्याग कर, अणगार
और प्रवर्जित हुआ है, उसके जाल में पुनः मत पड़ और इस
ओर समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

परिग्रह के अभ्यन्तर और बाह्य भेदों का वर्णन संक्षेप में
किया जा चुका । अब आगे जो वर्णन किया जा रहा है, वह
विशेषतः बाह्य परिग्रह को लक्ष्य बनाकर । क्योंकि व्यवहार में
बाह्य परिग्रह की ही प्रधानता है, लेकिन बाह्य परिग्रह का आधार
अभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक अभ्यन्तर परिग्रह पूर्णतः विद्यमान
है, तब तक तो वह प्राणी परिग्रह का रूप भी सुनना समझना
नहीं चाहता, न यही मानता है, कि परिग्रह त्याज्य है । जब
अभ्यन्तर परिग्रह का थोड़ा भी जोर कम होगा, कम से कम
मिथ्यात्व रूप परिग्रह भी दूर होगा, तभी प्राणी यह सुन सकता
है, कि अमुक वस्तु विचार या कार्य परिग्रह है । और फिर चरित्र
मोहनीय का जितने अंश में क्षय उपशम या क्षयोपशम हुआ
होगा उतने अंश में परिग्रह को त्याग भी सकेगा । यह समस्त
वर्णन भी उन्हीं के लिए उपयोगी हो सकता है, जो अभ्यन्तर

परिग्रह में से कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह से निवर्त चुके हों। ऐसे ही लोगों को यह बताना है, कि आत्मा पर परिग्रह का कैसा बोझ है। यह बात यद्यपि बताई जा रही है बाह्य परिग्रह के नाम पर, लेकिन बाह्य परिग्रह और अभ्यन्तर परिग्रह का अत्यधिक सम्बन्ध है। इसलिए बाह्य परिग्रह विषयक वर्णन के साथ अभ्यन्तर परिग्रह का वर्णन भी आप ही आ जावेगा। बाह्य परिग्रह के भेदोपभेद का विशेष वर्णन प्रसंगवश आगे होगा ही, फिर भी प्रश्न व्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृत्त का रूप देकर जो कुछ कहा गया है, यहाँ उसका वर्णन उचित होगा।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर कहा है, कि इस परिग्रह रूपी वृत्त की जड़ तृष्णा है। मणि हीरे जवाहिरात आदि सब प्रकार के रत्न तथा अन्य मूल्यवान पदार्थ, सोना चांदी आदि द्रव्य, स्त्री परिजन दास दासी आदि द्विपद, घोड़ा हाथी बैल भैंस ऊँट गधे भेड़ बकरी आदि पशु, रथ गाड़ी पालकी प्रभृत्ति वाहन, अन्न आदि भोज्य पदार्थ, पानी आदि पेय पदार्थ, वस्त्र बर्तन सुगन्धित-द्रव्य, और घर खेत पर्वत खदान ग्राम नगर आदि पृथ्वी की इच्छा मूर्छा, इस परिग्रह रूपी वृत्त की जड़ है। प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना और अप्राप्त वस्तु की कामना करना, यह परिग्रह वृत्त का मूल है। क्रोध मान माया लोभ, इसके स्कन्ध (कन्धे या धड़) हैं। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छा से

की गईं अनेक प्रकार की चिन्ताएँ, इस वृत्त की डालियाँ हैं। इन्द्रियों के काम-भोग, इस वृक्ष के पत्ते फूल तथा फल हैं। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृत्त का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृत्त के समान है, जिसका विस्तार ऐसा है।

यह तो कहा ही जा चुका है, कि ममत्व का नाम ही परिग्रह है। ममत्व रूपी परिग्रह की जड़, इच्छा और मूर्छा है। अथवा इच्छा और मूर्छा, ये ममत्व के दो भेद हैं। ममत्व, एक तो इच्छा रूप होता है और दूसरा मूर्छा रूप होता है। इच्छा और मूर्छा को ही ममत्व कहा जा सकता है, और ममत्व को ही इच्छा या मूर्छा भी कहा जा सकता है। वस्तु के प्रति जो ममत्वभाव होता है, वह एक तो इच्छा रूप होता है, और दूसरा मूर्छा, रूप। 'इच्छा' 'कामना' 'तृष्णा' या 'लोभ' कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। इसी प्रकार 'मूर्छा' 'गृद्धि' 'असक्ति' 'मोह' और 'ममत्व' भी, कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। जो वस्तु अप्राप्त है, उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दुःखित और मिलने पर प्रसन्न होना, इच्छा तृष्णा या कामना है। और जो वस्तु प्राप्त है, उसकी रत्ता चाहना, उसकी रत्ता का प्रयत्न करना, उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहना, उसकी कोई हानि न हो, उसे कोई ले न जावे या वह वस्तु चली न जावे, इस प्रकार का भय होना, उस वस्तु में अनुरक्त रहना, उसमें अपना जीवन मानना

और उसके जाने पर दुःख करना, यह मूर्छा है। इस प्रकार की इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व है, और जिस भी वस्तु के प्रति ममत्व है, वही परिग्रह है। तात्वार्थ सूत्र के रचयिता श्री उमा स्वामीजी ने भी कहा है—

मूर्छा परिग्रहः

अध्याय ७ सूत्र १२

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है।

इच्छा-मूर्छा

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥

अर्थात्—बुद्धिमान् लोग कहते हैं, कि हृदय में कामनाओं का निवास ही 'संसार' (जन्म-मरण) है, और समस्त कामनाओं का नाश ही 'मोक्ष' (जन्म मरण से छूटना है ।

पहले अध्याय में यह कहा जा चुका है, कि ममत्व ही परिग्रह है और ममत्व, इच्छा तथा मूर्छा रूप होता है। इस प्रकार इच्छा या मूर्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है। इसलिए अब यह

देखते हैं, कि इच्छा और मूर्छा का जन्म कैसे होता है, तथा इनका स्वरूप कैसा है।

संसार में जन्म लेने वाले प्राणी कर्मलिप्त होते हैं। यदि कर्मलिप्त न हों, तो संसार में जन्म ही न लेना पड़े। यह बात दूसरी है, कि कोई जीव कर्मों से कम लिप्त है और कोई अधिक लिप्त है, लेकिन जो संसार में जन्मा है वह कर्मलिप्त अवश्य है। कर्मलिप्त होने के कारण, आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता, अथवा जानता भी है तो विश्वास या दृढ़ता नहीं रखता। आत्मा, सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह 'सत्' अर्थात् सदा रहने वाला 'चिद्' अर्थात् चैतन्य रूप और 'आनन्द' अर्थात् सुख-निधान है। यह स्वयं सुख रूप है, फिर भी कर्मलिप्त होने के कारण अपने में रहा हुआ सुख नहीं देखता, स्वयं में जो सुख है उस पर विश्वास नहीं करता, लेकिन चाहता है सुख ही। इसलिए जिस प्रकार स्वयं की नाभि में ही सुगन्ध देने वाली कस्तूरी होने पर भी, मृग, घास फूस को सूँघ २ कर उसमें सुगन्ध खोजाता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं में रहे हुए सुख को भूल कर दृश्यमान जगत में सुख मानने लगता है। दृश्यमान जगत में सुख है, यह समझ कर आत्म बुद्धि को, और बुद्धि मन को प्रेरित करती है, तथा मन उस सुख को प्राप्त करने के लिए चंचल हो उठता है। इस प्रकार मन में सांसारिक पदार्थों की इच्छा उत्पन्न होती। अर्थात् बाह्य जगत

में सुख मानने से, मन में चंचलता आती है, और मन की ऐसी चंचलता से इच्छा का जन्म होता है।

मन, विशेषतः इन्द्रियानुगामी होता है। वह, इन्द्रियों के साथ जाना अधिक पसन्द करता है। रुकावट न होने पर मन, इन्द्रियों के प्रिय मार्ग पर ही चलता है और इन्द्रियाँ, स्वयं द्वारा ग्राह्य विषयों में ही सुख मानती हैं। यद्यपि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, उनका काम पदार्थों का ज्ञान कराना है, लेकिन जब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, और मन इन्द्रियों का अनुगामी बन जाता है, इन्द्रियों के साथ हो जाता है, तब इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी बन जाती हैं तथा विषयों में सुख मान कर उनकी ओर दौड़ने लगती हैं। इस प्रकार कर्मलिप्त होने के कारण आत्मा, सुख चाहता हुआ भी बुद्धि पर शासन नहीं कर सकता। बुद्धि से उसे अच्छी सम्मति नहीं मिलती, किन्तु मन की इच्छानुसार सम्मति मिलती है और मन इन्द्रियानुगामी हो जाता है, इसलिए वह इंद्रियों की रुचि के अनुसार ही इच्छा करता है। इस तरह इन्द्रिय मन और बुद्धि के अधीन होकर आत्मा, इन्द्रिय ग्राह्य विषयों में ही सुख मानने लगता है और मन को ऐसे ही सुखों की इच्छा करने के लिए—ऐसे ही सुख प्राप्त करने के लिए—बुद्धि द्वारा प्रेरित करता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों की इच्छा का जन्म होता है।

मनुष्य को जिन सांसारिक पदार्थों की इच्छा होती है, वे पदार्थ शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श, या इनमें से किसी एक विषय का पोषण करने वाले ही होते हैं। ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसके प्रति इच्छा तो है लेकिन वह पदार्थ शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श इन पाँचों या इन में से किसी एक का पोषक नहीं है। प्रायः प्रत्येक पदार्थ की इच्छा, इन्द्रियों और मन की विषय लोलुपता से ही होती है। इस प्रकार विचार करने से इस निर्णय पर आना होता है कि मन की चंचलता और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता से इच्छा का जन्म होता है।

इच्छा के साथ ही मूर्छा का भी जन्म होता है। इच्छा और मूर्छा का अविनाभावी सम्बन्ध है। जैसे धुएँ के साथ आग का सम्बन्ध है—जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी है—उसी प्रकार जहाँ इच्छा है, वहाँ मूर्छा भी है और जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ इच्छा तो है ही।

जीव जब संसार में जन्मता है, तब पूर्व जन्म के संस्कार होने के कारण सांसारिक पदार्थों की इच्छा भी साथ ही जन्मती है। फिर जैसे जैसे अवस्था बढ़ती जाती है, मन में चंचलता आती जाती है, पदार्थ-जगत् का परिचय होता जाता है, पूर्व संस्कार विकसित होते जाते हैं और कल्पनाशक्ति की वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है। अवस्था

मन पदार्थों का परिचय और कल्पनाशक्ति की वृद्धि के साथ ही इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है, और होते होते इच्छा का ऐसा रूप हो जाता है, जिसके लिए शास्त्र में कहा है—

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया ।

अर्थात्—जैसे आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नहीं है ।

मनुष्य जब जन्मता है, तब उसकी इच्छा माता के दूध आदि तक ही रहती है, अधिक नहीं होती । लेकिन फिर वह जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है । जो मनुष्य बचपन में केवल माता के दूध की ही इच्छा करता था, वह कुछ बड़ा होकर खाद्य-पदार्थों, खेल-सामग्री या ऐसी ही दूसरी चीजों की इच्छा करने लगता है । फिर जब और बड़ा होता है तब कपड़े लत्ते और खाद्य तथा खेल सामग्री के लिए पैसे आदि की इच्छा करता है । फिर जब और बड़ा होता है, तब स्त्री पुत्र पौत्र धन-दौलत प्रभृत्ति की इच्छा करता है । इस प्रकार वह जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है और सांसारिक पदार्थों को अधिक-अधिक जानता जाता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती ही जाती है ।

मनुष्य विशेषतः इहलौकिक और पारलौकिक पदार्थों की इच्छा करता है, लेकिन उसकी इच्छा इहलौकिक या पारलौकिक देखे सुने हुए पदार्थों तक ही सीमित नहीं रहती; किन्तु जिन

पदार्थों को कभी देखा सुना नहीं है, उन पदार्थों की भी कल्पना करता है, और उनकी भी इच्छा करता है। इस प्रकार इच्छा अनन्त ही रहती है, उसका अन्त नहीं आता। अर्थात् यह नहीं होता, कि अब इच्छा नहीं है। बुढ़ापा आने पर तो इच्छा बहुत ही बढ़ जाती है। उस समय वह कैसी होती है, इसके लिए एक कवि कहता है—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥

अर्थात्—बुढ़ापे के कारण मुँह पर सल पड़ गये हैं, सिर के बाल पक कर सफेद हो गये हैं, और शरीर के सब अंग शिथिल हो गये हैं, लेकिन तृष्णा तो जवान हो गई है। पहले से भी बढ़ गई है।

तात्पर्य यह कि मनुष्य के साथ ही इच्छा का भी जन्म होता है, लेकिन मनुष्य की आयु तो क्षीण होती जाती है, और इच्छा वृद्धि पाती जाती है। अवस्था के कारण तृष्णा की वृद्धि तो अवश्य होती है, परन्तु उसमें न्यूनता नहीं आती।

इच्छानुसार पदार्थों की प्राप्ति भी इच्छा को घटाने में समर्थ नहीं है। पदार्थों का मिलना भी, इच्छा की वृद्धि का ही कारण है। संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा, जिसकी इच्छा, इच्छानुसार पदार्थ मिलने से नष्ट हो गई हो। ऐसा होता ही नहीं

है। हाँ, पदार्थों के मिलने से इच्छा की वृद्धि अवश्य होती है। इच्छा की जैसे-जैसे पूर्त्ति होती जाती है, वैसे ही वैसे वह तीव्र गति से बढ़ती जाती है। जो मनुष्य कभी पेट भरने के लिए रूखी सूखी रोटी और ठंड से बचने के लिए फटे मोटे कपड़े की इच्छा करता है, वही इनके प्राप्त हो जाने पर स्वादिष्ट भोजन और सुन्दर वस्त्रों की इच्छा करता है। जब ये भी प्राप्त हो जाते हैं तब थोड़े से धन की इच्छा करता है, और साथ ही साथ सुन्दर भवन तथा भोगविलास की सामग्री भी चाहता है। इन सबके मिल जाने पर पुत्र पौत्र आदि की, फिर थोड़ी-सी भूमि की, थोड़े से अधिकार की, फिर राज्य की, साम्राज्य की, समस्त पृथ्वी की और स्वर्गादि के प्रभुत्व की इच्छा करता है। एक कवि ने कहा ही है—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये—
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृण समाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद्गुरु लघुतयार्थेषु धनिना—
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥

अर्थात्—जब मनुष्य दरिद्री होता है, तब तो एक पस जौ की भूसी की ही इच्छा करता है, पर जब धनवान हो जाता है, तब सारी पृथ्वी को भी तृण समान मानता है। इस प्रकार मनुष्य की अवस्था विशेष ही वस्तु के विषय में भिन्नता पैदा करती है।

इस प्रकार जब तक कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तब तक तो मनुष्य को उस अप्राप्त वस्तु की ही इच्छा होती है, लेकिन जब वह अप्राप्त वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। जैसे जैसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे ही वैसे उनसे आगे के बढ़िया पदार्थ की इच्छा होती है। इस तरह संसार की सामग्रियों का अन्त तो आ सकता है, लेकिन इच्छा का अन्त नहीं आता। इच्छा का किस प्रकार अन्त नहीं आता, यह बतलाने के लिए ग्रन्थों में एक कथा आई है। यहाँ उस कथा का वर्णन प्रासंगिक होगा।

मम्मन नाम के एक सेठ के पास ९९ क्रोड़ सोनैया की सम्पत्ति थी। उसने सोचा कि मेरी यह विशाल सम्पत्ति मेरे लड़के खर्च कर देंगे, इसलिए कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे लड़के इस सम्पत्ति को खर्च न कर सकें, किन्तु इसकी वृद्धि करते रहें। मम्मन सेठ इस विषयक उपाय सोचा करता। अन्त में उसने इसका उपाय सोच लिया। उसने अपने घर के भूमिगृह में एक सोने का बैल बनवाया, जिसके चारों ओर मणि माणिक आदि मूल्यवान रत्न लगे हुए थे। मम्मन सेठ ने प्रायः अपनी समस्त सम्पत्ति लगा कर वह बैल तयार कराया। जब बैल बन कर तयार हो गया, तब मम्मन सेठ बहुत ही प्रसन्न हुआ; लेकिन साथ ही उसे यह विचार हुआ कि अकेला होने के

कारण यह बैल शोभा होन है। इसलिए ऐसा ही एक बैल और बनवा कर इस बैल की जोड़ी मिला देनी चाहिए।

स्वर्ण-रत्न से बने हुए बैल की जोड़ी मिलाने के विचार से प्रेरित होकर मम्मन सेठ, फिर धन कमाने लगा। वह धन के लिए न्याय अन्याय झूठ सत्य आदि किसी भी बात की पर्वा न करता। उसका एकमात्र उद्देश्य पुनः उतनी ही सम्पत्ति प्राप्त करना था, जितनी सम्पत्ति लगाकर उसने भूमिगृह में स्वर्ण-रत्न का बैल बनवाया था। दिन रात वह इसी चिन्ता में रहता, कि मेरा उद्देश्य कैसे पूरा हो। उसे रात के समय पूरी तरह नींद भी न आती। यद्यपि वह धन के लिए अन्य समस्त बातों की उपेक्षा करता था, फिर भी ९९ क्रोड़ के लगभग सम्पत्ति एकत्रित करना कोई सरल बात न थी, जो चटपट एकत्रित कर लेता।

वर्षा के दिन थे। रात के समय बिस्तर पर पड़ा हुआ मम्मन सेठ यही सोच रहा था, कि किस प्रकार बैल की जोड़ का दूसरा बैल बने! सहसा उसे ध्यान हुआ, कि वर्षा हो रही है और नदी पूर है, इसलिए नदी में लकड़ियाँ बह कर आती होंगी। मैं पड़ा-पड़ा क्या करता हूँ! नदी से लकड़ियाँ ही क्यों न निकाल लाऊँ! दस पाँच रुपये की भी लकड़ियाँ मिल गईं, तो क्या कम होंगी!

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई है, वह चाहे जैसा बड़ा हो और

स्वयं को चाहे जैसा प्रतिष्ठित मानता हो, लेकिन उसे मम्मन सेठ की तरह किसी कार्य के करने में विचार या संकोच न होगा। फिर चाहे वह कार्य उसकी प्रतिष्ठा के अयोग्य ही क्यों न हो!

मम्मन सेठ नदी पर गया। वह, नदी के बहाव में आनेवाली लकड़ियों को पकड़-पकड़ कर निकालने और एकत्रित करने लगा। जब लकड़ियाँ बोझ भर हो गई, तब मम्मन सेठ बोझ को सिर पर रख कर घर की ओर चला। चलते चलते वह राजा के महल के पास आया। उस समय रानी, झरोखे की ओर से वर्षा की बहार देख रही थी। योगायोग से उसी समय बिजली चमक उठी। बिजली के प्रकाश में रानी ने देखा, कि एक आदमी सिर पर लकड़ियों का बोझ लिये नदी की ओर से चला आ रहा है। यह देख कर रानी ने राजा से कहा, कि महाराज, आपके नगर में कैसे कैसे दुःखी हैं, यह तो देखिये! अन्धेरी रात का समय है, बादल गरज रहे हैं और वर्षा हो रही है, फिर भी यह आदमी लकड़ी का बोझ लिये जा रहा है। यदि यह दुःखी न होता, तो इस समय घर से बाहर क्यों निकलता और कष्ट क्यों उठाता! आपको अपनी प्रजा का कष्ट मिटाना चाहिए। ऐसा करना आपका कर्त्तव्य है। कहावत ही है, कि—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

रानी के कहने से राजा ने भी मम्मन सेठ को देखा। 'वास्तव में यह दुःखी है और इसका दुःख अवश्य मिटाना चाहिए' इस विचार से राजा ने एक सिपाही को बुला कर उससे कहा, कि महल के नीचे जो आदमी जा रहा है, उससे कह दो कि वह सवेरे दरबार में हाजिर हो।

सिपाही गया। उसने मम्मन सेठ को राजा की आज्ञा सुनाई। मम्मन सेठ ने कहा—मैं महाराज की आज्ञानुसार सवेरे हाजिर होऊँगा।

दूसरे दिन सवेरे, अच्छे कपड़े लत्ते पहन कर मम्मन से दरबार में पहुँचा। राजा ने उससे आने का कारण पूछा। मम्म सेठ ने कहा कि—आपने रात के समय सिपाही द्वारा, मुझे दरबार में हाजिर होने की आज्ञा दी थी, तदनुसार मैं हाजिर हुआ हूँ। राजा ने कहा कि—मैंने तो उस आदमी को हाजिर होने की आज्ञा दी थी, जो रात के समय लकड़ी का बोझ लिये नदी की ओर से आया था। तुम्हारे लिए हाजिर होने की आज्ञा नहीं दी थी। मम्मन सेठ ने उत्तर में कहा कि—वह व्यक्ति मैं ही हूँ। राजा ने साश्चर्य पूछा कि—भयंकर रात में सिर पर लकड़ी का गट्ठा रखे हुए नदी की ओर से क्या तुम्हीं चले आ रहे थे?

मम्मन—हाँ महाराज।

राजा—तुम्हें ऐसा क्या कष्ट है, जो उस समय नदी में से

लकड़ी निकालने गये थे ? यदि कोई जानवर काट खाता अथवा नदी के प्रवाह में बह जाते तो ?

मम्मन—महाराज, मुझे एक बैल की जोड़ मिलानी है, जिसके लिए धन की आवश्यकता है। इसीलिए मैं रात को नदी के बहाव से लकड़ियाँ निकालने के लिए गया था।

मम्मन सेठ के कथन से राजा ने समझा, कि बनिये लोग स्वभावतः कृपण हुआ करते हैं, इसलिए कृपणता के कारण यह सेठ अपने पास से पैसे लगा कर बैल नहीं लाना चाहता, किन्तु इधर उधर से पैसे एकत्रित करके उनसे बैल लाना चाहता है। यह विचार कर राजा ने मम्मन सेठ से कहा कि—बस इसीलिए अपने प्राणों को इस प्रकार आपत्ति में डाला था ? तुम्हें जैसा भी चाहिए वैसा एक बैल मेरी पशुशाला से ले जाओ।

मम्मन—मेरे यहाँ जो बैल है, उसकी जोड़ का बैल आपके यहाँ नहीं हो सकता।

राजा—मेरे यहाँ वैसा बैल नहीं है, तो खजाने से रुपये लेकर वैसा बैल खरीद लाओ !

मम्मन—महाराज, वैसा बैल मोल भी नहीं मिल सकता।

राजा—तुम्हारा बैल कैसा है, जिसकी जोड़ का बैल मेरी पशुशाला में भी नहीं मिल सकता और मोल भी नहीं मिल सकता ! तुम्हारे उस बैल को यहाँ मंगवाओ, मैं देखूँगा।

मम्मन—वह बैल यहाँ नहीं आ सकता। हाँ यदि आप मेरे घर पधारें, तो उस बैल को अवश्य देख सकते हैं।

राजा ने मम्मन सेठ के यहाँ जाना स्वीकार किया। राजा को साथ लेकर मम्मन सेठ अपने घर गया। वह, राजा को तहखाने में ले गया और स्वर्ण-रत्न का बैल बता कर कहा कि महाराज, मैं इस बैल को जोड़ मिलाना चाहता हूँ। उस रत्नजटित स्वर्ण-बैल को देख कर, राजा दंग रह गया। वह सोचने लगा कि—इस बैल को बनवाने में जितनी सम्पत्ति लगी है, उतनी सम्पत्ति से जब इसको सन्तोष नहीं हुआ, तब ऐसा दूसरा बैल पाकर इसे कब सन्तोष होगा!

इस प्रकार विचार कर, राजा लौट आया। उसने रानी से कहा कि—रानी, रात के समय तुमने जिस आदमी को सिर पर लकड़ी का गट्ठा लेकर जाते देखा था, वह आदमी यहाँ का एक धनिक सेठ है। उसको और किसी कारण दुःख नहीं है, किन्तु तृष्णा के कारण दुःख है, जिसे मिटाने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। उसने ९९ क्रोड़ सोनैया की लागत का एक बैल बनवाया है, जो सोने का है और जिस पर रत्न जड़े हुए हैं। इतनी सम्पत्ति होने पर भी, उसकी तृष्णा शान्त नहीं है और वह वैसा ही दूसरा बैल बनवाना चाहता है। कौन कह सकता है, कि वैसा दूसरा बैल बनवा लेने पर उसकी तृष्णा शान्त हो जावेगी और वह सुखी हो

जावेगा। ऐसा आदमी—जब तक उसकी तृष्णा बढ़ी हुई है तब तक—कदापि सुखी नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह, कि इच्छा का अन्त न तो अवस्था बीतने से ही आता है, न पदार्थों के मिलने से ही आता है। इसी कारण एक कवि ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी।
अरब खरब लों द्रव्य बढ़्यो तो धरापति होने की आश लगेगी॥
उदय अस्त तक राज्य मिल्यो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष विना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

इच्छा की तरह मूर्छा भी मनुष्य के साथ ही जन्मती है और उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाती है। बचपन में मनुष्य माता और माता के दूध से ही ममत्व करता है। फिर, खेलने के पदार्थ और खाद्य पदार्थ से भी। इसी प्रकार अवस्था के बढ़ने से जैसी तृष्णा बढ़ती है, उसी प्रकार मूर्छा भी बढ़ती जाती है। मूर्छा भी कभी शान्त नहीं होती। वृद्धत्व के कारण भी मूर्छा के अस्तित्व में अन्तर नहीं पड़ता। बल्कि वृद्धत्व मूर्छा की वृद्धि करता है। बच-पन और जवानी में किसी पदार्थ के प्रति जितनी मूर्छा होती है, उससे कई गुनी अधिक मूर्छा बुढ़ापे में हो जाती है। बचपन या जवानी में कोई व्यक्ति प्राप्त पदार्थ के व्यय में जिस प्रकार की उदारता रखता है, वृद्धावस्था आने पर प्रायः वैसी उदारता नहीं

रहती। वृद्धावस्था आने पर उसे, पहले की तरह पदार्थ को अपने से दूर करने में दुःख होता है, और यदि विवश होकर उसे पदार्थ त्यागना पड़ता है, अथवा उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे पदार्थ छूट जाता है, तो उसको उस समय—बचपन या जवानी में उक्त कारण से जो दुःख हो सकता है उससे—कई गुना अधिक दुःख होता है। इस प्रकार अवस्था के कारण मूर्च्छा की वृद्धि तो अवश्य होती है, पर इसमें न्यूनता नहीं आती। अधिक पदार्थों की प्राप्ति भी मूर्च्छा को न्यून नहीं करती, किन्तु वृद्धि ही करती है। आज जिसके पास केवल चार पैसे हैं, उसकी मूर्च्छा इन चार पैसों में ही रहती है, लेकिन आगे यदि उसे विशाल राज्य प्राप्त हो जावे, तो वह उस राज्य में मूर्च्छित रहने लगता है। फिर उसको यह विचार नहीं होता, कि मेरे पास तो केवल चार ही पैसे थे, अतः मैं इस राज्य पर मूर्च्छा क्यों करूँ! वह उसमें मूर्च्छित रहता है और आगे यदि उसे विशाल साम्राज्य प्राप्त हो जावे, तो उस व्यक्ति की उस साम्राज्य के प्रति भी मूर्च्छा रहेगी।

तात्पर्य यह, कि जिस प्रकार अवस्था या पदार्थों की प्राप्ति के कारण तृष्णा कम नहीं होती, किन्तु वृद्धि पाती है, उसी प्रकार अवस्था या पदार्थों के आधिक्य के कारण मूर्च्छा में भी कमी नहीं होती। पदार्थों का आधिक्य, मूर्च्छा में वृद्धि ही करता है, कमी नहीं लाता। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हैं, उसकी मूर्च्छा

उतनी ही अधिक बढ़ी हुई है। वह उन सब को प्रिय समझता है, उनमें से प्रत्येक के जाने पर दुःख करता है और कभी-कभी उनके वियोग के दुःख से प्राण तक दे देता है।

यहाँ यह विचार करना भी आवश्यक है, कि इच्छा और मूर्छा का अन्त क्यों नहीं होता। इच्छा और मूर्छा का अन्त न होने का कारण यह है, कि आत्मा सुख का इच्छुक है। वह सुख प्राप्ति के लिए ही सांसारिक पदार्थों की इच्छा और उनसे मूर्छा करता है, लेकिन सांसारिक पदार्थों में सुख है ही नहीं। सुख तो स्वयं आत्मा में ही है, परन्तु स्वयं में जो सुख है, अज्ञान अथवा भ्रमवश उसको न देख कर आत्मा बाह्य पदार्थों में सुख मानता है; किन्तु बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है, इसलिए सुख की इच्छा से आत्मा जिसे पकड़ता है, सुख उससे आगे के पदार्थों में दिखाई देता है। जैसे मृगतृष्णा को देख कर मृग, जल की आशा से दौड़ कर जाता है, लेकिन उसको जल और आगे ही आगे जान पड़ता है, इसलिए वह आगे दौड़कर जाता है। इस प्रकार मृगतृष्णा में जल की खोज करता हुआ वह दौड़ता दौड़ता मर जाता है, परन्तु उसे मृगतृष्णा से जल नहीं मिलता। इसी प्रकार आत्मा पहले किसी एक पदार्थ में सुख देखता है, लेकिन जब वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है, तब उस पदार्थ में उसे सुख नहीं जान पड़ता, किन्तु अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है। इसीलिए उस अप्राप्त

पदार्थ की इच्छा करता है। इस प्रकार सुख की इच्छा से वह अधिकाधिक आगे के पदार्थ की इच्छा करता जाता है, परन्तु उसे किसी भी पदार्थ में सुख नहीं मिलता। फिर भी आत्मा को भ्रम यही रहता है, कि सुख इन पदार्थों में ही है। इस भ्रम के कारण वह पदार्थों की इच्छा करता ही जाता है। यहाँ तक कि पदार्थों का अन्त तो आ जाता है, परन्तु इच्छा का अन्त नहीं आता, और जब इच्छा का अन्त नहीं आता, तब मूर्छा का अन्त कैसे आ सकता है। इस प्रकार जब तक आत्मा स्वयं में रहे हुए सुख को नहीं देखता, किन्तु बाह्य पदार्थों में सुख मानता है, तब तक इच्छा और मूर्छा का भी अन्त नहीं हो सकता।

इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रहबुद्धि का जन्म होता है। इच्छित पदार्थ के मिलने पर, उससे मूर्छा होती है, और जिसके प्रति मूर्छा है, उसको त्यागा नहीं जा सकता। इसलिए उसको संग्रह करता है। यद्यपि पदार्थ की इच्छा सुख-प्राप्ति के लिए ही होती है, और इच्छित पदार्थ के मिल जाने पर उसमें सुख नहीं जान पड़ता—किन्तु दूसरे अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है—फिर भी आत्मा प्राप्त पदार्थ को छोड़ना नहीं चाहता। उस प्राप्त पदार्थ से उसे ममत्व हो जाता है, इसलिए ऐसे पदार्थ को संग्रह करता जाता है। इस प्रकार इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है।

सारांश यह, कि कर्मलिप्त होने के कारण आत्मा स्वयं में रहे हुए सुख को भूल कर, भ्रम या अज्ञानवश सुख को स्वयं से भिन्न मानने लगता है। इससे इच्छा और मूर्छा का जन्म होता है और इच्छा मूर्छा ही, ममत्व अथवा परिग्रह है। भ्रमवश दूसरे पदार्थों मे सुख देखने और उनकी इच्छा तथा उनके प्रति मूर्छा रखने से आत्मा को क्या हानि है, यह बात साधारण रूप से इस प्रकरण के प्रारम्भ के श्लोक में बताई जा चुकी है, फिर भी इस पर कुछ अधिक प्रकाश डालना उचित है। लेकिन ऐसा करने से पहले एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है, जिससे समझने में गलती न हो। इस प्रकरण में उसी इच्छा का वर्णन है, जो संसार-बन्धन में डालनेवाली है। जो इच्छा संसार-बन्धन से निकलने के लिए होती है, उस इच्छा का इस वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि आत्मा को जन्म-मरण के कार्यों से छुड़ाने वाली इच्छा प्रसस्त है। जो आत्मा को संसार-बन्धन में डालती है, इस कारण वह इच्छा अप्रसस्त है।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह कहा गया है, कि हृदय में इच्छाओं का निवास ही जन्म-मरण का कारण है। यह बात सिद्ध करने के लिए, यहाँ विशेष रूप से विचार किया जाता है। संसार में जन्मने मरने का कारण, कर्म-बन्ध है। जब तक कर्म से सम्बन्ध है, तब तक आत्मा को जन्म-मरण करना ही होता है।

इच्छा, मूर्छा, संग्रहबुद्धि रूप परिग्रह, कर्मबन्ध का ही कारण और वह भी अशुभ कर्म-बन्ध का। परिग्रह के कारण अशुभ कर्म का बन्ध कैसे तथा किन कारणों से होता है, इस बात का विशेष विचार अगले प्रकरण में किया गया है, तथापि यहाँ यह बताना उचित है कि आत्मा और अन्य पदार्थों के रूप गुण तथा स्वभाव में विषमता है। जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब पुद्गलों के संयोग से बने हैं और संयोग में आना तथा विलग होना पुद्-गलों का स्वभाव है। इस कारण सांसारिक पदार्थ बनते भी हैं और नष्ट भी होते हैं। वे स्थिर नहीं होते किन्तु अस्थिर होते हैं। उनका नाश है। जो पदार्थ आज दिखाई देता है, वह कल नष्ट भी हो सकता है और जो आज नहीं है, वह कल बन भी सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि पदार्थ द्रव्य से ही नष्ट हो जाता है। द्रव्य (पुद्गल) नष्ट नहीं होता, उसका तो रूपान्तर मात्र होता है, लेकिन पर्याय से पदार्थ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ—जिनका निर्माण पुदगलों से हुआ है—नाशवान हैं, लेकिन आत्मा ऐसे पदार्थों से भिन्न स्वभाव वाला है। आत्मा अविनाशी है। उसका रूप कभी नहीं बदलता। वह, नित्य ध्रुव और आनन्द स्वरूप है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थ और आत्मा में साम्य नहीं है, किन्तु वैषम्य है और जिनमें वैषम्य है, उन दोनों में किसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यदि उन दोनों में कोई सम्बन्ध दिखाई भी देता हो, तो वह अल्पकाल के लिए है। अधिक समय तक नहीं रह सकता। उन दोनों का सम्बन्ध अवश्य ही भंग हो जावेगा। आत्मा अविनाशी है, और पदार्थ नाशवान हैं। आत्मा मिलता विखरता नहीं है, और पुद्गल मिलते विखरते हैं। आत्मा चैतन्य है, और पुद्गल जड़ हैं। इस प्रकार आत्मा और पदार्थ-पुद्गल का किसी भी दृष्टि से साम्य नहीं है।

जीव और पुद्गल में साम्य नहीं है, फिर भी अज्ञान में पड़ा हुआ जीव, पुद्गलों से स्नेह करता है, उनको स्वमय समझता है, और प्रत्येक व्यवहार ऐसा समझ कर हो करता है। इस कारण आत्मा अपने रूप को भूला हुआ है और जड़ पुद्गलों को स्वमय मान कर स्वयं भी जड़-सा बन रहा है। यह स्वयं को पुद्गल मय और पुद्गलों को स्वमय मान बैठा है, परन्तु न तो आत्मा पुद्गलों का है, न पुद्गल आत्मा के हैं।

उदय भाव जन्य आत्मा जिन पदार्थों को अपना समझता है, उनमें सबसे पहला शरीर है। शरीर के साथ आत्मा बंधा हुआ है, इससे आत्मा समझता है कि मैं शरीर ही हूँ। यह शरीर को अपना समझता है, लेकिन जिसे अपना समझता है उस शरीर में आत्मा का क्या है! यदि शरीर आत्मा का हो, तो आत्मा की इच्छा के विरुद्ध शरीर में रोग वृद्धता आदि क्यों आवे! आत्मा

शरीर, आत्मा का कैसे रहा ! और आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध रहा !

शरीर के पश्चात् माता पिता स्त्री पुत्र भाई बन्धु आदि को आत्मा अपना समझता है, उनसे स्नेह करता है, परन्तु वे भी आत्मा के कैसे हो सकते हैं। जिनको आत्मा अपना समझता है, वे, आत्मा की इच्छा के विरुद्ध मर जाते हैं, या आत्मा के ही शत्रु बन जाते हैं। ऐसी दशा में उनसे भी आत्मा का क्या स्थायी सम्बन्ध रहा और ये भी आत्मा के कैसे रहे !

इनसे आगे आत्मा, धन राज्य आदि को अपना समझता है, उनसे स्नेह करता है, उन्हें प्राप्त करने की कांक्षा तथा चेष्टा करता है, परन्तु उन सब से भी आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यदि ये सब या उनमें से कोई आत्मा का हो, तो फिर आत्मा से उनके वियोग का क्या कारण है ? आत्मा की इच्छा के विरुद्ध वे सब क्यों छूट जाते हैं ? आत्मा के न चाहने पर भी वे सब आत्मा से छूट जाते हैं, इस कारण उनसे भी आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं रहा।

इसी प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ के विषय में विचार करने पर मालूम होगा, कि आत्मा से उनका सम्बन्ध नहीं है,

फिर भी आत्मा उन्हें अपना मान बैठा है। आत्मा को यह भी विचार नहीं होता, कि जिसको मैं अपना कह या समझ रहा हूँ, उसको कौन कौन अपना मान या कह रहे हैं। जिस शरीर को आत्मा अपना मानता है, उसी शरीर को उसमें रहने वाले कीटाणु भी अपना मानते हैं, किन्तु शरीर किसी का भी नहीं है। वह तो पंचभूत की सहायता से बना हुआ पुतला मात्र है, जो एक दिन नष्ट हो जाता है, और 'मेरा-मेरा' कहने वाले धरे ही रह जाते हैं। जिस घर को अपना माना जाता है, उसी घर को अनेक दूसरे जीव भी अपना मानते हैं। उस घर में रहने वाले सभी मनुष्य पशु पक्षी कीटाणु आदि घर को अपना मानते हैं, लेकिन वह घर किसी का भी नहीं है। इसी प्रकार संसार के अन्यान्य पदार्थों को भी आत्मा अपना मान कर उनसे ममत्व करता है, लेकिन इसी तरह वे भी आत्मा के नहीं हैं।

तात्पर्य यह, कि आत्मा का सांसारिक पदार्थों से किसी भी दृष्टि से साम्य नहीं है, और इसलिए इन दोनों का स्थायी सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। फिर भी आत्मा उनमें सुख मान कर उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और उनके प्रति मूर्छा करता है, तथा वह इच्छा मूर्छा ऐसी होती है, कि सांसारिक पदार्थों की ओर से कभी सन्तोष ही नहीं आता। उसका असन्तोष बढ़ता ही जाता है। आत्मा चाहे सारे भौतिक संसार का आधिपत्य

करता हो, तब भी असन्तोष तो बना ही रहता है। तृप्ति तो होती ही नहीं है। शम्भु चक्रवर्ती के लिए यह प्रसिद्ध ही है, कि वह छः खण्ड पृथ्वी का स्वामी था, फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ और उसने सातवाँ खण्ड साधने की तयारी की थी। मम्मन सेठ के असन्तोष की कथा पहले दी ही जा चुकी है। रावण के अनेक स्त्रियाँ थीं, फिर भी उसको सन्तोष नहीं हुआ और उसने सीता को अपनी स्त्री बनाने का असफल प्रयत्न किया ही।

आत्मा, एक तो अपने रूप गुण और स्वभाव से भिन्न रूप गुण तथा स्वभाव वाले पदार्थ से ममत्व करता है, इस कारण अपने रूप को नहीं जान पाता। और जब तक अपने रूप को जान कर बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता, तब तक मुक्त नहीं हो सकता। दूसरे, आत्मा में सांसारिक पदार्थों के प्रति जो इच्छा मूर्छा होती है, वह मरण काल में भी नहीं मिटती, किन्तु शरीर त्यागने के पश्चात् भी संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। इस कारण भी आत्मा जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पाता, किन्तु जन्म-मरण करता ही रहता है। आत्मा में जब तक सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्छा है—फिर चाहे वह संस्कार रूप ही क्यों न हो—तब तक वह जीवनमुक्त नहीं हो सकता। जीवन मुक्त तो तभी हो सकता है, जब उसमें इच्छा मूर्छा का अस्तित्व ही न रहे। तीसरे, इच्छा मूर्छा के कारण आत्मा पाप कर्म बांधता है,

इस कारण भी उसको संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है। इस तरह आत्मा के लिए इच्छा मूर्छा, संसार में जन्म-मरण कराने और नरक तिरयञ्च आदि योनि में होनेवाले कष्ट दिलाने का कारण है।

३

परिग्रह से हानि

कलह कलभ विन्ध्यः क्रोध गृध्र श्मशानम् ।
व्यसन भुजग रन्ध्रं द्वेष दस्यु प्रदोषः ॥
सुकृत वन दवाग्निर्मार्दवांभोद वायु-
र्नयनलिन तुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥

अर्थात्—अर्थानुराग (ममत्व) कलह रूपी बालहाथी को क्रीड़ा करने के लिए विन्ध्याचल के समान है । जिस प्रकार हाथी का बच्चा वन पर्वत में क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है, वहाँ कलह क्रीड़ा करता है । कलह का स्थान परिग्रह ही है । क्रोध रूपी गिद्ध के लिए परिग्रह श्मशान तुल्य है । जैसे गिद्ध को श्मशान प्रिय होता है—वहाँ उसे भोजन मिलता है—उसी

प्रकार क्रोध का स्थान परिग्रह है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ क्रोध भी अवश्य है। अथवा क्रोध वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। परिग्रह, दुर्व्यसन रूपी साँप के लिए बाँबी के समान है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ सभी प्रकार के दुर्व्यसन हैं। द्वेष रूपी डाकू के लिए परिग्रह सन्ध्या के समान है। जैसे सन्ध्या होने पर चोर डाकुओं का जोर चलता है, उसी प्रकार परिग्रह होने पर द्वेष का भी जोर चलता है। द्वेष वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। सुकृत रूपी बन के लिए परिग्रह अग्नि के समान है। जैसे आग जंगल को जला देती है, उसी प्रकार परिग्रह, सुकृत को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार बादलों का दुश्मन पवन है, उसी प्रकार मृदुता का दुश्मन परिग्रह है। जैसे हवा होने पर बादल नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है वहाँ मृदुता नहीं रह सकती। न्याय को तो परिग्रह उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस तरह कमल-वन को पाला नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह, कि परिग्रह, कलह क्रोध दुर्व्यसन तथा द्वेष का पोषक और सुकृत मृदुता तथा न्याय का नाशक है।

परिग्रह द्वारा होने वाली हानि का, यह स्थूल रूप बताया गया है। परिग्रह, समस्त दुःखों का कारण है। यह स्वयं को भी दुःख में डालता है और दूसरों को भी। परिग्रह से व्यक्तित्व की भी हानि होती है, और समाज की भी। यह आध्यात्मिक

ानि का भी कारण है और शारीरिक हानि का भी। इसके द्वारा त्या क्या हानि होती है, यह थोड़े में बताया जाता है।

इच्छा मूर्छा रूप ममत्व से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है। इच्छा मूर्छा होने पर, किसी पदार्थ की ओर से सन्तोष नहीं होता। चाहे जितनी सम्पत्ति हो, चाहे जैसा राज्य हो और चाहे जितनी स्त्रियाँ हों, फिर भी यही इच्छा रहती है, कि मैं और संग्रह करूँ। इस प्रकार की संग्रह बुद्धि ने ही संसार में दुःख फैला रखा है। संसार में जितने भी दुःखी हैं, वे सब संग्रह बुद्धि के प्रताप से ही। वैज्ञानिकों का कथन है, कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ, प्रकृति इस परिमाण में उत्पन्न करती है, कि जिससे सबकी आवश्यकता-पूर्ति हो सके। ऐसा होते हुए भी, संसार में नङ्गे भूखे लोग दिखाई देने का कारण लोगों की बढ़ी हुई संग्रह-बुद्धि ही है। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थ संग्रह कर रखते हैं, और दूसरे लोगों को उन पदार्थों के उपयोग से वंचित रखते हैं। इसी कारण लोगों को नंगा भूखा रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहाँ अत्यधिक अन्न जमा रखते हैं, जो सड़ जाता है, और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के बिना हाहाकार करते रहते हैं। एक ओर पेटियों में भरे हुए वस्त्र सड़ रहे हैं, उन्हें कीड़े खा रहे हैं, और दूसरी ओर लोग जाड़े से मर रहे हैं। एक ओर कुछ

लोग बड़े-बड़े मकानों में ताले डाले रखते हैं, और दूसरी ओर कुछ लोगों के पास वर्षा शीत तथा ताप से बचने तक को स्थान नहीं है। एक ओर कुछ लोगों के पास इतनी ज्यादा भूमि है, कि जिसमें कृषि करना उनके लिए बहुत ही कठिन है, और दूसरी ओर कुछ लोगों को जमीन का इतना टुकड़ा भी नहीं मिलता, जिसको जोत-बो कर वे अपना पेट पाल सकें। कुछ लोगों के पास रुपये पैसे का इतना अधिक संग्रह है, कि जिसे जमीन में गाड़ रखा गया है, या उन्हें जिसकी आवश्यकता ही नहीं है, और दूसरी ओर कुछ लोग रत्ती-रत्ती सोना चाँदी के लिए तरसते हैं। इस प्रकार संसार में जो वैषम्य दिखाई दे रहा है, वह संग्रह बुद्धि के कारण ही।

जिसकी आवश्यकता नहीं है, उसको अपने पास संग्रह रखने और उसके अभाव में दूसरों को कष्ट पाने देने से ही बोल्शेविज़्म का जन्म हुआ है। इस प्रकार का वैषम्य रूस में बहुत ज्यादा फैल गया था। अन्त में पीड़ित लोगों ने क्रान्ति कर दी, जिससे वहाँ के उन लोगों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा, जिन्होंने अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह कर रखा था।

लोग, पदार्थों का संग्रह इच्छा मूर्छा के वश होकर तो करते ही हैं, लेकिन उनमें प्रधानतः बिना श्रम किये ही सांसारिक सुख भोगने और इस प्रकार स्वयं को बड़ा सिद्ध करने, तथा इच्छा

मूर्छा के कारण उत्पन्न अभिमान का पोषण करने की भावना भी रहती है। इस भावना से प्रेरित होकर वे, संसार के अधिक से अधिक पदार्थों पर अपना आधिपत्य करने का प्रयत्न करते हैं और जिन लोगों को उन पदार्थों की आवश्यकता है—उन पदार्थों के बिना जिन्हें कष्ट है—उन लोगों से बदला लेकर फिर उन्हें वे पदार्थ देते हैं। भूमिकर और सूद, अथवा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद इसी भावना का परिणाम है।

लोगों में, उसी पदार्थ को संग्रह करने, उसी पदार्थ को अधिक मात्रा में अपने अधिकार में करने की भावना रहती है, जिसके द्वारा अन्य समस्त पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सकें। आज कल ऐसा पदार्थ, स्वर्ण-मुद्रा या रजत-मुद्रा माना जाता है। जिस ससय मुद्रा का प्रचलन नहीं था, उस समय के लोगों में—आज के लोगों की तरह की--संग्रह बुद्धि भी नहीं होती थी। न उस समय संसार में आज का-सा वैषम्य आज की-सी बेकारी और आज का-सा दुःख ही होता था। जब विनिमय मुद्रा के अधीन नहीं था, तब अन्य वस्तुओं का ही परस्पर विनिमय होता था। उदाहरण के लिए उस समय किसी को वस्त्र की आवश्यकता हुई और उसके यहाँ अन्न है, तो वह अन्न देकर वस्त्र ले आता था। किसी के यहाँ नमक है और उसे घी की आवश्यकता है, तो वह नमक देकर घी ले आता था। इस प्रकार, वस्तु से वस्तु का

विनिमय होता था। मुद्रा से वस्तु का विनिमय होना तो दूर रहा, किसी समय मुद्रा का प्रचलन ही न था। ऐसे समय में, यदि कोई पदार्थों का संग्रह रखता भी तो कहाँ तक! अन्न वस्त्र या ऐसे ही दूसरे पदार्थ, किसी निर्धारित समय तक ही रह सकते हैं। अधिक समय होने पर बिगड़ जावेंगे। इसलिए लोग ऐसे पदार्थों को अधिक दिनों तक नहीं रख सकते थे। लेकिन जब से मुद्रा का प्रचलन हुआ है, तब से संग्रह की कोई सीमा ही नहीं रही। विनिमय मुद्रा के अधीन रहा, और मुद्रा ऐसी धातु से बनी हैं, जो सैकड़ों हजारों वर्ष तक भी न सड़ती है न घुनती है। इसलिए लोग मुद्राओं का संग्रह अधिक रखते हैं, जिससे पदार्थों का विनिमय रुक जाता है और लोगों को कष्ट का सामना करना पड़ता है। जब कृषि आदि द्वारा उत्पन्न पदार्थों का परस्पर विनिमय होता था, तब लोग अधिक संग्रह भी नहीं रखते थे, और पदार्थ खराब हो जावेंगे, यह समझ कर उदारता से भी काम लेते थे। परन्तु जब से विनिमय स्वर्ण रजत आदि धातु के अधीन हुआ है, तब से संग्रह की भी सीमा नहीं रही और उदारता का भी आधिक्य नहीं रहा। आज की विनिमय-पद्धति के लिए कहा तो यह जाता है, कि मुद्रा (सिक्के) से विनिमय में सुविधा हो गई है, परन्तु विचार करने पर मालूम होगा, कि कृषि और गोपालन द्वारा उत्पन्न पदार्थों का विनिमय खनिज

पदार्थों के अधीन हो जाने से, संसार महान् दुःखी हो गया है।
जब विनिमय मुद्रा के अधीन नहीं था, तब कृषक लोग भूमिकर
में उसी वस्तु का कोई भाग देते थे, जो उन्हें कृषि द्वारा प्राप्त होती
थी। ऐसा कर (महसूल) चक्रवर्त्ती तो उत्पन्न का बीसमान्श
लेता था, वासुदेव दशमान्श और साधारण राजा षष्टमान्श लेता
था। इससे अधिक कर नहीं लिया जाता था। लेकिन आजकल
कृषि से तो अन्न या दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और भूमिकर
मुद्रा के रूप में लिया जाता है। इससे कृषकों को, अन्नादि सस्ते
भाव में भी बेंच देना पड़ता है। इसके सिवा, कृषि में कुछ उत्पन्न
हो या न हो, अथवा कम उत्पन्न हो, फिर भी भूमि कर (लगान)
तो प्रायः बराबर ही देना होता है। इस प्रकार जब से सिक्के का
निर्माण और प्रचलन हुआ है, जनता अधिक दुःखी हुई है। सिक्के
के कारण व्यापारी भी थोड़ी ही देर में तो धनवान बन जाता है,
और थोड़ी ही देर में दिवाला निकाल देता है। यह सिक्के का
ही प्रताप है। इस प्रकार सिक्के के निर्माण और उसकी वृद्धि ने
आपत्तियों की भी वृद्धि की है। इसीलिए किसी एक बादशाह ने
अपने राज्य में भारी-भारी (वजनदार) सिक्का चलाया था। उसका
कहना था, कि सिक्का जितना भी कम हो, उतना ही अच्छा है।

सांसारिक पदार्थों से, आत्मा को कभी भी सुख नहीं मिलता।
क्योंकि सांसारिक पदार्थों में सुख है ही नहीं। इसलिए उनसे

चाहे जितना ममत्व किया जावे--उनको चाहे जितना संग्रह किया जावे--उनसे सदा दुःख ही होता है। संसार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते हैं और जो प्राप्त नहीं हैं, वे भी दुःख देते हैं। जो प्राप्त हैं, उन्हें प्राप्त करने में भी दुःख उठाना पड़ा है, उनके प्राप्त हो जाने पर भी दुःख ही है और उनके जाने पर भी दुःख ही होता है। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हैं, उसको उतनी ही चिन्ता है, उतना ही भय है और उतनी ही अधिक अशान्ति है। उदाहरण के लिए एक आदमी के पास कुछ ही रुपये हैं, और दूसरे के पास बहुत रुपये हैं। जिसके पास कुछ ही रुपये हैं उसे भी चिन्ता और भय तो रहेगा, परन्तु जिसके पास अधिक रुपये हैं, उसे चिन्ता भी अधिक रहेगी और भय भी अधिक रहेगा। उसको उस धन की रक्षा के लिए, मकान तिजोरी ताले और पहरेदार भी रखने पड़ेंगे। यह सब होने पर भी, चिन्ता तो बनी ही रहेगी। यह भय सदा ही रहेगा, कि कोई मेरा धन न ले जावे! रात को सुख से नींद भी न आवेगी और नौकर चाकर स्त्री पुत्र पर सन्देह भी रहेगा, तथा उनकी ओर का भय भी रहेगा। इसी प्रकार, संसार की जितनी भी आपत्तियाँ हैं, सब परिग्रह के कारण ही हैं। चोर डाकू और आग पानी आदि का भय, परिग्रही को ही होता है। राजकोप आदि आपत्तियाँ भी, परिग्रही पर ही आती हैं। किसी कवि ने कहा ही है—

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥१॥
सुत स्वजन भूपाल दुष्ट चौरारिविड्वरात ।
बन्धु मित्र कलत्रेभ्यो धनिभिः शंक्यते भृशं ॥२॥
स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी ।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्ध मण्डलैः ॥३॥

अर्थात्—धनवान (परिग्रही) पुरुष, धन की रक्षा के लिए रात को सोता भी नहीं है, और पुत्र स्वजन राजा दुष्ट चोर बैरी बन्धु स्त्री मित्र अथवा परचक्र आदि से, यहाँ तक कि जो समस्त परिग्रह के त्यागी हैं उन गुरु से भी शंकित ही रहता है। उसको सभी की ओर से सन्देह रहता है। क्योंकि धनवान यानी परिग्रही अपनी ही जाति के मनुष्यों द्वारा उसी प्रकार दुःखित भी किया जाता है, जिस प्रकार मांस भक्षी पक्षियों द्वारा वह पक्षी दुःखित किया जाता है, जिसके पास मांस का टुकड़ा है ।

परिग्रह, प्राप्त होने से पहले भी दुःख देता है, प्राप्त होकर भी दुःख देता है, और छूट कर भी दुःख देता है । हाँ यह अन्तर अवश्य है, कि बड़े परिग्रह के साथ बड़ा दुःख लगा हुआ है और छोटे के साथ छोटा दुःख है, लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को फूलों की माला की इच्छा हुई और दूसरे व्यक्ति को मोतियों की माला की इच्छा हुई। फूल

को माला थोड़े ही कष्ट से प्राप्त भी हो जावेगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी थोड़ी ही करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी थोड़ा ही रहेगा और उसके जाने या नष्ट होने पर दुःख भी थोड़ा ही होगा। परन्तु मोती की माला अधिक कष्ट से भी प्राप्त होगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी अधिक करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी अधिक रहेगा और यदि उसे चोर ले जावे, कोई छीन ले, या यह खो जावे, तो दुःख भी बहुत होगा। इस प्रकार थोड़े दुःख और अधिक दुःख का अन्तर तो अवश्य है, लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य लगा हुआ है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

अर्थाना मर्जने दुःखं मर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुखं धिगर्थं दुःख भाजनम् ॥

अर्थात—परिग्रह के उपार्जन में दुःख है, और उपार्जित के रक्षण में दुःख भी है, परिग्रह के आने में भी दुःख है और जाने में भी दुःख है; इसलिए दुःख के पात्र परिग्रह को धिक्कार है।

एक और कवि भी कहता है—

दुःखमेव धनव्याल विषविध्वस्तचेतसां ।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥

अर्थात्—धन रूपी सर्प के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदा दुःख ही होता है। उन्हें धनोपार्जन

में भी दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है और धन के नाश अथवा व्यय में भी दुःख होता है।

पदार्थों के पाने से पहले आत्मा को जो शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है, तथा बन्धन में भी पड़ जाना होता है। उदाहरण के लिए किसी पैदल जाते हुए को घोड़ा मिल गया। घोड़ा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए ऐसा चाहे समझे, कि मुझको शान्ति मिली है और मैं स्वतन्त्र हुआ हूँ, परन्तु वास्तव में घोड़ा पाकर वह दुःखी तथा परतन्त्र हुआ है। अब उसे घोड़े की चिन्ता ने और आ घेरा। वह पैदल जहाँ और जब जा सकता था, घोड़ा लिये हुए वहाँ और उस समय नहीं जा सकता। इसी प्रकार संसार के अन्य समस्त पदार्थों के लिए भी समझ लेना चाहिए। संसार के समस्त पदार्थ, स्वतन्त्रता का हरण करनेवाले, परतन्त्र बनानेवाले, तथा अशान्ति उत्पन्न करनेवाले हैं।

परिग्रही में, दूसरे के प्रति सदा ही ईर्षा का भाव रहता है। वह यही सोचता रहता है, कि अमुक आदमी गिर जावे और मैं उससे बड़ा हो जाऊँ, वह व्यक्ति मेरी समानता का न हो जावे, उसको अमुक वस्तु क्यों मिल गई, आदि। इस प्रकार वह दूसरों का अहित ही चाहता है। वह किसी अप्राप्त पदार्थ को पाकर उसमें भी तभी तक सुख मानता है, जब तक उसे वैसा पदार्थ

दूसरे के पास नहीं देख पड़ता। दूसरे के पास वैसा पदार्थ देख कर, उसके हृदय में ईर्षा होती है और उसे स्वयं के पास के पदार्थ में सुख नहीं जान पड़ता। वह सोचता है, कि इसमें क्या है! ऐसा तो उस अमुक के पास भी है।

परिग्रह, निर्दयता भी लाता है। हृदय को कठोर बनाता है। जो जितना परिग्रही है, वह उतना ही निर्दय और कठोर-हृदय है। यदि उसमें निर्दयता और कठोरता न हो, तो वह–लोगों को दुःखी देख कर भी–अपने पास पदार्थ संग्रह नहीं रख सकता। इसी प्रकार परिग्रही व्यक्ति अपने किंचित् कष्ट को तो महान् दुःख समझता है, लेकिन दूसरे के महान् दुःख की उसे कुछ भी पर्वा नहीं होती। दूसरा कोई दुःखी है तो रहे, परिग्रही तो यही चाहता है, कि मेरे काम में कोई बाधा न आवे। मेरे लिए दूसरे को कैसा कष्ट होता है, मेरे व्यवहार से दूसरे को कैसी व्यथा होती है, इन बातों की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता। वह तो यही समझता है, कि कष्ट सह कर मुझे सुख देने के लिए ही दूसरे लोग बने हैं, और मैं दूसरों को कष्ट देकर सुख भोगने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। ऐसा व्यक्ति, दीन दुखियों की सहायता के नाम पर कुछ खर्च भी कर देता हो, लेकिन उसका यह कार्य दया या सहृदयता की प्रेरणा से ही हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः लोगों को दिखाने, यशस्वी बनने और स्वयं

के प्रति जनता को आकर्षित करके अपनी गणना दानियों में कराने के लिए ही, संचित या प्राप्त परिग्रह का एक तुच्छ अंश दे देता है। वस्तुतः उसमें दया और सहृदयता हो ही नहीं सकती। यदि उसमें दया और सहृदयता हो, तो वह परिग्रह के लिए किसी को किंचित् भी कष्ट नहीं दे सकता, न अपने पास अधिक संग्रह रख उन पदार्थों के बिना दूसरों को कष्ट ही पाने दे सकता है।

परिग्रही में द्रोह की प्रधानता रहती है, और जहाँ द्रोह है, वहाँ प्रेम का अभाव स्वाभाविक ही है। इस प्रकार परिग्रह, प्रेम का नाशक है। यह बात ऊपर के वर्णन से और भी स्पष्ट है।

सांसारिक पदार्थों को संग्रह रखनेवाला—उन से ममत्व करने-वाला—सांसारिक पदार्थों को ही महत्व देता है, आत्मा और गुणों की तो उपेक्षा या अवहेलना ही करता है। वह सम्मान भी उसीका करता है, जिसके अधिकार में सांसारिक पदार्थ अधिक हैं। इसके विरुद्ध जिसके पास सांसारिक पदार्थ का वैसा आधिक्य नहीं है, उसका आदर करना तो दूर रहा, उसकी ओर देखना भी पसन्द नहीं करता, न उसके सुख दुःख की ही अपेक्षा करता है। फिर यदि वह गुणी हो, अथवा दुःखी हो। उसमें गुणी के प्रति प्रमोद भावना और दुःखी के प्रति करुणा भावना नहीं होती।

परिग्रह के लिए आत्मा की भी अवहेलना की जाती है, और

उससे भी द्रोह किया जाता है। आत्मा को बड़ा नहीं समझा जाता, किन्तु परिग्रह को ही बड़ा समझा जाता है और आत्मा का आदर नहीं किया जाता, किन्तु परिग्रह का आदर किया जाता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ आलस्य अकर्मण्यता भी है। दूसरे के श्रम का लाभ लूटने और स्वयं का जीवन आलस्य एवं विलास में बिताने की ही भावना रहती है, तथा इसी का प्रयत्न किया जाता है।

परिग्रही व्यक्ति स्वयं को ही सब से अधिक गुणवान् है। फिर चाहे उसमें दुर्गुण ही दुर्गुण क्यों न हों। बल्कि एक कवि के कथनानुसार तो परिग्रही में जरा भी गुण नहीं होता। वह कवि कहता है—

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्र सन्निभाः।
भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम्॥

अर्थात्—परिग्रही में निस्सन्देह ही जरा भी गुण नहीं होता, और दोष सुमेरु की तरह के बड़े २ होते हैं।

इसके अनुसार परिग्रही में दोष ही दोष होते हैं, गुण जरा भी नहीं होता, फिर भी वह समझता यही है, कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ। समस्त गुण मेरे ही में हैं। ऐसे लोगों का व्यवहार देख कर ही किसी कवि ने कहा है—

यस्यास्ति वित्तं सनरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचन माश्रयन्ति।

अर्थात्—जिसके पास धन है, वह आदमी कुलवान न होने पर भी कुलीन माना जाता है, बुद्धिहीन होने पर भी बुद्धिमान माना जाता है, शास्त्रज्ञ न होने पर भी शास्त्रज्ञ माना जाता है, गुणवान न होने पर भी गुणवान माना जाता है, वक्ता न होने पर भी वक्ता माना जाता है और दर्शनीय न होने पर भी दर्शनीय समझा जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि सारे गुण धन में ही हैं।

परिग्रही में अभिमान भी बहुत होता है। वह, स्वयं को बड़ा सिद्ध करने—स्वयं का अधिकार जताने—के लिए, दूसरे का अपमान करने में भी संकोच नहीं करता।

परिग्रही व्यक्ति से, प्रायः धर्म कार्य भी नहीं हो सकते। जो जितना अधिक परिग्रही है, वह धर्म से उतना ही अधिक दूर है। वह लोगों को दिखाने, स्वयं को धार्मिक सिद्ध करने आदि उद्देश्य से चाहे धर्म कार्य करता हो और उनमें भाग भी लेता हो, परन्तु वस्तुतः उनमें पूर्ण धार्मिकता नहीं हो सकती। यह प्रायः समस्त धर्मकार्य, सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति या उनकी रक्षा की कामना से ही करता है, निष्काम होकर नहीं करता। पहले तो ऐसा व्यक्ति, स्थिर चित्त से धर्माराधन या ईश्वर-भजन कर ही नहीं सकता। उसका चित्त, सदा अस्थिर चिन्ता एवं भयग्रस्त रहता

है, इस कारण उससे धर्माराधन या ईश्वर-भजन होना कठिन है। इस पर भी यदि वह ऐसा करता है, तो प्राप्त पदार्थ की कुशलक्षेम, अथवा अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए ही। और यदि कभी उसकी कामना के विपरीत कार्य हुआ, तो उस दशा में वह धर्माराधन या ईश्वर-भजन करना त्याग ही नहीं देता है, किन्तु धर्म और ईश्वर पर अविश्वास भी करने लगता है। उसका सिद्धान्त क्यों होता है, इसके लिए भर्तृहरि कहते हैं—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वाह्निना।
शौर्ये वैरिणो वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणस्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥

अर्थात्—चाहे जाति रसातल को चली जावे, समस्त गुण रसातल से भी नीचे चले जावें, शील पहाड़ से गिर कर नष्ट हो जावे, और वैरिन शूरता पर शीघ्र ही वज्र आ पड़े तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन हमारा धन नष्ट न हो। हमें तो केवल धन चाहिए। क्योंकि, धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ हैं।

परिग्रह के लिए, धर्म और ईश्वर के प्रति विद्रोह भी किया जाता है, और धर्म के स्थान पर अनीश्वरवाद की स्थापना की जाती है। परिग्रह के लिए ही, छल कपट और अन्याय अत्याचार को धर्म का

रूप दिया जाता है। कुगुरु और कुदेव को परिग्रह के लिए ही माना जाता है। परिग्रह के लिए ही धर्म की मर्यादा उल्लंघन की जाती है और ईश्वर के अस्तित्व से इनकार किया जाता है। धर्म और ईश्वर विरोधी समस्त कार्य, परिग्रह के कारण ही होते हैं।

परिग्रह के लिए ही दुर्व्यसनों का सेवन किया कराया जाता है। मांस भक्षण मदिरापान जुआ निन्दा चुगली आदि सब दुर्व्यसन परिग्रह के कारण ही सेवन किये जाते हैं, या कराये जाते हैं।

छल कपट और अन्याय अत्याचार भी परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही विश्वासघात का भयंकर पाप किया जाता है, और पिरग्रह के लिए हो न्यायाधीश कहलानेवालों द्वारा अन्याय किया जाता है।

परिग्रह के लिए, प्रकृति से भी विरोध किया जाता है। उसका सौन्दर्य नष्ट किया जाता है। जनता को प्रकृति दत्त लाभों से वंचित रखा जाता है। जंगल काट डाले जाते हैं, नदियों का पानी रोक दिया जाता है या बांट दिया जाता है, तथा भूमि और पहाड़ों को खोद डाला जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य और जो मनुष्य के लिए आवश्यक है वह प्राकृतिक सुविधा को नष्ट करदी जाती है; और उसके स्थान पर कृत्रिमता का पोषण किया जाता है।

यह नियम है, कि जो जिसका ध्यान करता है, वह वैसा ही

बन जाता है। आत्मा चैतन्य है, और संसार के समस्त पदार्थ जड़ हैं। जब चैतन्य आत्मा जड़ पदार्थों का ही ध्यान करता रहेगा, तब उसमें भी जड़ता आना सम्भव है। इसके सिवा, जड़ दृश्य पदार्थों का ध्यान करने से आत्मा दृष्टा को यानी स्वयं को भूल जाता है। यह विचार भी नहीं करता, कि मैं दृष्टा, दृश्य में कैसे भूल रहा हूँ।

अज्ञान में पड़ा हुआ आत्मा, सांसारिक पदार्थों से ममत्व करके उनका संग्रह तो करता है, लेकिन आत्मा को सांसारिक पदार्थों से ममत्व करने और उनका संग्रह करने का अधिकार है या नहीं, यह एक विचारणीय बात है। सांसारिक पदार्थ, आत्मा के तद्रूप भी नहीं हैं, वे आत्मा का साथ भी छोड़ देते हैं—आत्मा के साथ या पास रहते भी नहीं हैं—फिर आत्मा किसी वस्तु को अधिकार पूर्वक अपनी कैसे कह सकता है, और उनका संग्रह क्यों करता है। वस्तुतः आत्मा का सांसारिक पदार्थों पर कोई अधिकार नहीं है। फिर भी अज्ञान के कारण आत्मा उनको संग्रह करता है, उनसे ममत्व रखता है, और इस प्रकार स्वयं की हानि ही करता है।

परिग्रह, पाप-बन्ध का कारण है। यह अन्तिम और प्रधान आस्रवद्वार है। यह अन्तिम आस्रवद्वार ही, प्रथम के चार आश्रवद्वारों का रक्षक एवं पोषक है। प्रथम के चार आस्रव की

उत्पत्ति, इसीसे है। यह, समस्त पापों का कारण है। भगवती सूत्र के दूसरे शतक में गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है, कि इच्छा मूर्छा और वृद्धि (अर्थात् परिग्रह) से, क्रोध मान माया लोभ का अविनाभावी सन्बन्ध है। जहां इच्छा मूर्छा है, वहां क्रोध मान माया और लोभ भी हैं। क्रोध मान माया लोभ, पापानुबन्ध चौकड़ी है। जहां क्रोध मान माया लोभ हैं, वहां सभी पाप हैं, और जहाँ परिग्रह है, वहाँ क्रोध मान माया लोभ है। इस प्रकार परिग्रह, समस्त पापों का केन्द्र है। सब पाप परिग्रह से ही उत्पन्न होते हैं। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी कहा है, कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाते हैं, परदारगमन तथा परदारहरण करते है, क्षुधा तृषा आदि कष्ट स्वयं भी सहते हैं और दूसरे को भी ऐसे कष्ट में डालते हैं, कलह करते हैं, दूसरे का बुरा चाहते हैं, दूसरे के लिए अपशब्द कहते हैं, दूसरे का अपमान करते हैं हैं तथा स्वयं भी अपमानित होते हैं, सदैव चिन्तित रहते हैं, और बहुतों का हृदय दुखाते हैं। क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक परिग्रह ही है।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने समस्त पापों का कारण परिग्रह को ही बताया है। अनुभव से भी यह स्पष्ट है, कि संसार में जितने भी पाप है, वे सब परिग्रह के ही कारण हैं और परिग्रह के लिए

ही किये जाते हैं। ऐसा कोई भी पापकार्य न होगा, जो परिग्रह के कारण न किया गया हो। लोग, इच्छा और मूर्छा के वश होकर ही प्रत्येक पाप करते हैं। जिसमें, या जहाँ इच्छा मूर्छा नहीं है, उसमें या वहाँ किसी भी प्रकार का पाप नहीं है।

संसार में जितनी भी हिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के वास्ते ही लोग हिंसा करते हैं। शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के साधन राज्य धन और स्त्री के लिए ही युद्ध हुए हैं, और होते हैं। राम और रावण का युद्ध परिग्रह के लिए ही हुआ था। परिग्रह के लिए ही मणिरथ ने अपने भाई युगबाहु को मार डाला था*। परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने अपने भाइयों की हत्या की थी। कोणिक और चेड़ा का शास्त्र प्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। इसी प्रकार और भी सैकड़ों हजारों उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे यह सिद्ध है, कि परिग्रह के लिए ही मनुष्य मनुष्य की हत्या करता है और अपने पुत्र पिता भाई माता मामा स्त्री पति आदि को मृत्यु के हवाले कर देता है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व यूरोप में जो युद्ध हुआ था, और जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्य मौत के घाट उतरे थे, वह भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। मनुष्यों की हत्या करने में सैनिकों को किसी प्रकार का संकोच न हो, इसी विचार से राजालोग सैनिकों

* यहां स्त्री की इच्छा भी परिग्रह से ही मानी गई।

को वास्तविक धर्म-शिक्षा से वंचित रखते हैं और यह शिक्षा देते दिलाते हैं, कि युद्ध करके मनुष्यों को मारना ही धर्म है। यह सब परिग्रह के लिए ही किया जाता है। परिग्रह के लिए ही सैनिक लोग, राजाओं की--मनुष्यों को मारने ऐसी--वीभत्स आज्ञा का पालन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। परिग्रह के लिए ही, युद्ध ऐसे महान् पाप को भी धर्म का रूप दिया जाता है।

यह तो उस हिंसा की बात हुई, जिसका करना 'वीरता' माना जाता है, जो समाज में घृणा की दृष्टि से नहीं देखी जाती, और समाज भी जिसकी निन्दा नहीं करता किन्तु जिस हिंसा के करने वाले को 'वीर' उपाधि से विभूषित करता है। अब उस हिंसा की बात करते हैं, जो राज्य द्वारा अपराध मानी जाती है और समाज में भी निन्द्य समझी जाती है। चोर डाकू पारदारिक आदि लोग भी, परिग्रह के लिए ही जन--हिंसा करते हैं। परिग्रह के लिए ही मनुष्य, अपनी ही तरह के मनुष्य को बात की बात में कत्ल कर डालता है, किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करता। अधिक कहाँ तक कहा जावे, संसार में जिनको स्वजन कहा जाता है, परिग्रह के लिए उनकी भी हत्या कर डाली जाती है और आत्म-हत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है।

परिग्रह के लिए स्वयं के शरीर से भी द्रोह किया जाता है। जो व्यवहार शरीर के लिए असह्य है, जिस व्यवहार से शरीर

को क्षति होती है, परिग्रह के लिए शरीर के प्रति भी वही व्यवहार किया जाता है और जिस व्यवहार से शरीर सुखी रहता है, पुष्ट तथा सशक्त रहता है, आयु की वृद्धि होती है, उस व्यवहार से शरीर को वंचित रखा जाता है। जैसे अधिक, गरिष्ठ और प्रकृति-विरुद्ध भोजन, मैथुन आदि कार्य तथा नशा शरीर के लिए हानि-प्रद है, लेकिन परिग्रह के लिए ऐसे हानिप्रद कार्य भी किये जाते हैं। और अल्प तथा सादा भोजन, सीमितश्रम आदि शरीर के लिए लाभप्रद हैं, फिर भी इनसे शरीर को वंचित रखा जाता है। अर्थात् मिथ्या आहार--विहार द्वारा शरीर के साथ द्रोह किया जाता है, और वह परिग्रह के लिए ही।

शरीर से आगे जन्म देनेवाले मातापिता, प्रिय माने जाने वाले भाई बहन मित्र सम्बन्धी स्त्री पुत्र आदि परिजन के विषय में विचार करने पर मालूम होगा, कि परिग्रह के लिए इन सब से अथवा इनमें से प्रत्येक के साथ—द्रोह किया जाता है। मनुष्य पर माता-पिता का अनन्त उपकार है, परन्तु परिग्रह के लिए उनका भी अपकार किया जाता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन थोड़े ही उदाहरणों से काम चल सकता है, इसलिए कंस कोणिक और औरंगजेब के उदाहरण देना ही पर्याप्त है। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को, परिग्रह के लिए ही कारागार में डाल दिया था। कोणिक ने, परिग्रह के लिए

ही अपने पिता श्रेणिक को पींजरे में बन्द कर दिया था। और परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने, अपने बूढ़े बाप शाहजहाँ को आगरे के किले में बन्द करके भूखों–प्यासों मारा था। इसी प्रकार अनेक नर पिशाचों ने, परिग्रह के लिये अपनी जन्मदात्री माता की भी हत्या कर डाली है; उसे भी कष्ट दिया है। यूरोप के किसी राजा या सेनापति ने, अपनी माता को भी तलवार के घाट उतार दिया था।

परिग्रह के लिए, माता-पिता द्वारा सन्तान का द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत मिलेंगे। परिग्रह के लिए ही पुत्र पुत्री में भेद भाव समझा जाता है और एक को शुभ तथा दूसरे को अशुभ मनाया जाता है। परिग्रह के लिए ही सन्तान को दूसरे के हाथ वेंचा जाता है, और उसके सुख दुःख की चिन्ता नहीं की जाती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता ने, परिग्रह के लिए ही* अपने पुत्र ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती को लाक्ष गृह में जलाने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिए भाई से द्रोह करने के उदाहरण तो, सब से ज्यादा हैं। कौरवपाण्डव भाई भाई ही थे, लेकिन परिग्रह के लिए आपस में लड़ मरे। औरंगजेब ने अपने भाई दारा शूजा और मुराद को, परिग्रह के लिए ही मार डाला था। और परिग्रह के लिए ही भरत चक्रवर्त्ती ने, अपने ९८ भाइयों की स्वाधीनता छीनने का प्रयत्न किया था।

---

* भोगों में मूर्च्छा परिग्रह ही है।

परिग्रह के लिए बहन का भाई द्वारा, और भाई का बहन द्वारा द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत हैं। इसी-प्रकार मित्र-द्रोह भी परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही पति द्वारा पत्नी का, और पत्नी द्वारा पति का द्रोह किया जाता है। सूरि-कान्ता रानी ने, अपने पति परदेशी राजा की हत्या परिग्रह के लिए ही की थी। आज भी ऐसे बहुत उदाहरण देखने-सुनने में आते हैं।

समाज का द्रोह भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है। परिग्रह के लिए ही ऐसे काम किये जाते हैं, जिनसे समाज का अहित होता है। परिग्रह के कारण जाति और देश से भी द्रोह किया जाता है। आज तक जितने भी देशद्रोही हुए हैं, उन सब ने परिग्रह के लिए ही देशद्रोह किया था। आज भी जो लोग देशद्रोह करते हैं, वे परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के लिए ही वे कार्य किये जाते हैं, जिनसे देश का अहित होता है।

राजा, प्रजा का रक्षक माना जाता है, लेकिन परिग्रह के लिए वह भी प्रजाद्रोही बन जाता है। परिग्रह के लिए ही वह ऐसे ऐसे नियमोपनियम बनाता है, ऐसे ऐसे कर लगाता है, जो प्रजा को कष्ट में डालते हैं।

तात्पर्य यह, कि संसार में जितनी भी जनहिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। इच्छा-मूर्छा से प्रभावित व्यक्ति को जनहिंसा

करने में, धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य का विचार नहीं होता, न यही विचार होता है, कि ये मेरे सम्बन्धी अथवा मित्र हैं, मैं इनकी हिंसा कैसे करूँ।

यह, जन-हिंसा की बात हुई। अब पशु पत्ती आदि की हिंसा पर विचार किया जाता है। पशु-पक्षियों की हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है। दीन मूक और किसी की कोई हानि न करने वाले पशु पत्तियों को भी, मनुष्य इच्छा-मूर्छा की प्रेरणा से ही मारता है। शिकार द्वारा, कत्ल खानों द्वारा, अथवा अन्य प्रकार से पशु-पत्तियों की जो हिंसा होती है, वह सब परिग्रह के लिए ही। चर्म रक्त केश दांत चर्बी मांस अथवा अन्य किसी अवयव के लिए ही, पशु या पत्ती को मारा जाता है। यदि इनमें से किसी की चाह न हो, तो मारे जाने वाले पशुपत्तियों को मारने का कोई कारण ही नहीं है। जो कोई भी पशु पत्तियों की हिंसा करता है, वह या तो उस पशु-पत्ती के अंगों-पांग दूसरे को वेंच कर बदले में और कुछ लेता है, अथवा स्वयं ही उनको उपयोग में लेता है। दोनों में से किसी भी लिए हो, फिर भी यह तो स्पष्ट है, कि परिग्रह के लिए ही पशुओं और पत्तियों की हिंसा की जाती है और परिग्रह के लिए ही दूसरे जीवों की भी हिंसा की जाती है। बन्ध वध आदि हिंसा के अंग रूप पाप भी परिग्रह के लिए ही होते हैं।

इस प्रकार, परिग्रह के लिए ही हिंसा का पाप होता है।

छोटे या बड़े, किसी भी जीव की हिंसा ऐसी न निकलेगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। आरम्भादि द्वारा होनेवाली हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है, और महारम्भ द्वारा होनेवाली हिंसा तो विशेषतः परिग्रह के लिए होती है। परिग्रह के लिए ही महारम्भ और महापाप किया जाता है। मिलों और कारखानों से जो काम होता है, वह काम इनके विना भी हो सकता था और उस दशा में अनेकों को रोटी भी मिल सकती थी, परन्तु बढ़ी हुई इच्छा-मूर्छा वाले लोग, मिल और कारखाने स्थापित करके उन कामों को करते हैं, जिसमें बहुतों को होनेवाला लाभ एक या कुछ व्यक्ति को ही हो। यद्यपि ऐसा करने से जनता में कंगाली फैलती है, सार्वजनिक कला नष्ट होती है और महारम्भ होता है, लेकिन परिग्रह के लिए इन सब बातों की अपेक्षा नहीं की जाती।

अब झूठ के विषय में विचार करते हैं। झूठ का पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है। चाहे सूक्ष्म झूठ हो या स्थूल, उसका उपयोग परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रों का पाठ तथा अर्थ बदला जाता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रों में तात्विक परिवर्त्तन किया जाता है। परिग्रह के लिए ही वास्तविकता को छिपा कर कृत्रिमता से काम लिया जाता है। परिग्रह के लिए ही झूठी गवाही दी जाती है, कम तौला नापा जाता है, वस्तु में संमिश्रण किया जाता है और सत्य को दबाया

जाता है। परिग्रह के लिए ही अच्छी कन्या को बुरी, बुरी कन्या को अच्छी, अच्छे लड़के को बुरा और बुरे लड़के को अच्छा बताया जाता है। परिग्रह के लिए ही ६० के बदले ४५ को और १४ के बदले १८ बरस की अवस्था बताई जाती है। इस प्रकार झूठ सम्बन्धी समस्त पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है।

चोरी का पाप भी परिग्रह के लिए ही होता है। ऐसी एक भी चोरी न होगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। इसी प्रकार मैथुन भी परिग्रह के लिए ही होता है।

इस प्रकार चारों वे पाप, जो परिग्रह से पहले के चार आस्रव द्वार माने जाते हैं, परिग्रह के लिए ही सम्पन्न होते हैं। यदि परिग्रह का पाप न हो, तो ऊपर कहे गये चारों पाप भी नहीं हो सकते।

सारांश यह, कि संसार के समस्त पाप-कार्य, और संसार के समस्त अनर्थ परिग्रह के लिए ही होते हैं। परिग्रह, सब पापों का मूल और सब अनर्थों की खान है। परिग्रह से होनेवाले, अथवा परिग्रह के लिए होनेवाले पाप और अनर्थ का पूर्णतया वर्णन बहुत ही कठिन है, इसलिए इतना कह कर ही सन्तोष किया जाता है।

अपरिग्रह व्रत

आशा नामनदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सु दुस्तरऽतिगहना प्रोत्तुङ्ग चिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसोनंदन्ति योगीश्वराः॥

अर्थात्—आशा, एक नदी के समान है। उसमें इच्छा रूपी जल भरा हुआ है। ममत्व, उस नदी में रहनेवाला मगर है। तर्क-वितर्क, पक्षी हैं। मोह, उसमें भँवर है, और चिन्ता उस नदी का तट है। इस प्रकार की आशा रूपी नदी, धैर्य रूपी वृक्ष को गिरा देती है। इस तरह की आशा नदी को पार करना बहुत ही कठिन है, लेकिन जो विशुद्ध चित्तवाले महात्मा आशा नदी को पार कर जाते हैं, वे बहुत ही आनन्द पाते हैं।

यह मनुष्य-भव बहुत कठिनाई से प्राप्त हुआ है। न मालूम कितने काल तक अन्य गति में भ्रमण करने के पश्चात्, यह मनुष्य शरीर मिला है। मनुष्य शरीर, समस्त साधन सहित है। ऐसा कोई कार्य नहीं जो इस शरीर के होने पर न किया जा सके। इसलिए मनुष्य-भव पाकर आत्मा का ध्येय, संसार के जन्म-मरण से छूटना होना चाहिए। जो आत्मा इस ध्येय को भूला हुआ है उसके लिए कहना चाहिए कि वह स्वयं को ही भूला हुआ है और इस कारण उसे न मालूम कब तक जन्म-मरण करना होगा। क्योंकि मनुष्य भव के सिवा अन्य भव में, जन्म-मरण से छूटने की बात को समझना भी कठिन है। कदाचित समझ भी लिया, तो इस ध्येय तक पहुँचने के साधन नहीं होते, इसलिए जन्म-मरण से छूटने में असमर्थ रहता है। केवल मनुष्य शरीर ही, इस ध्येय पर पहुँचाने में समर्थ है। इसलिए प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है, कि वह मनुष्य-शरीर को व्यर्थ न जाने दे, किन्तु उसे पाकर जीवनमुक्त होने का प्रयत्न करे।

गत अध्याय में जिसका रूप और जिससे होनेवाली हानि का वर्णन किया गया है, वह परिग्रह आत्मा को जीवनमुक्त नहीं होने देता। परिग्रह, आत्मा पर भार रूप है। आत्मा को मोक्ष की ओर नहीं जाने देता। जन्म-मरण के दुःख से आत्मा का छुटकारा तभी हो सकता है, जब वह परिग्रह को सर्वथा त्याग दे।

क्योंकि परिग्रह, बन्ध का कारण है। सूत्र कृतांग के पहले अध्ययन में कहा है—

चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नंवा अणुजाणाइ एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥

अर्थात्—चाहे सचित परिग्रह हो अथवा अचित परिग्रह हो, जो व्यक्ति किंचित् भी परिग्रह रखता है या दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह व्यक्ति दुःख से कभी भी नहीं छूटता।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने, परिग्रह को कर्म-बन्ध का कारण बताया है और जबतक कर्म-बन्ध नहीं रुकता, तब तक आत्मा मोक्ष की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। मोक्ष-प्राप्ति के वास्ते, परिग्रह को सर्वथा त्यागने की आवश्यकता है। परिग्रह को त्यागने के लिए ही भगवान तीर्थङ्कर ने अपरिग्रह व्रत बताया है।

पूर्व के अध्यायों में, परिग्रह का रूप और उससे होनेवाली आत्मा की हानि का कुछ वर्णन किया जा चुका है। अब यह बताते हैं, कि अपरिग्रह व्रत क्या है, उसको स्वीकार करने से क्या लाभ है, और उसका पालन कैसे हो सकता है।

जिस परिग्रह का पिछले अध्यायों में वर्णन किया गया है, उस परिग्रह से निवर्तने के लिए जो व्रत स्वीकार किया जाता है,

उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' है। इस व्रत को स्वीकार करने से, इहलौकिक लाभ भी हैं और पारलौकिक लाभ भी। पहले के अध्यायों में यह बताया जा चुका है, कि परिग्रह समस्त पापों का कारण है। परिग्रह, राग-द्वेष का वर्द्धक और मोक्ष-मार्ग का अवरोधक है। इस व्रत को स्वीकार करने पर आत्मा, समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है। वह, राग-द्वेष-रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार जन्म-मरण के कष्ट से छूट जाता है। जन्म-मरण का मूल हेतु, राग-द्वेष ही है। अपरिग्रही होने पर राग-द्वेष मिट जाता है, इसलिए फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, अप्रत्याख्यानी चौकड़ी और प्रत्याख्यानी चौकड़ी का निरोध हो जाता है, इससे जन्म-मरण और नरकादि के दुःख से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परिग्रह के कारण आत्मा जन्म-मरण के जिस बन्धन में है, परतन्त्रता की जिस जंजीर से जकड़ा हुआ है, अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर लेने पर उस बन्धन और परतन्त्रता से भी छूट जाता है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर ही, पूर्णतया धर्माराधन हो सकता है और तभी कामना रहित तथा शुद्ध रीति से परमात्मा का भजन भी किया जा सकता है।

सांसारिक पदार्थ, अशान्ति के ही कारण हैं। वे स्वयं के लिए भी अशान्ति रूप हैं, और दूसरे के लिए भी। स्वयं शान्ति

प्राप्त करने के लिए, तथा दूसरों को शान्ति देने के लिए उनका त्याग करना आवश्यक है। इसी के लिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया जाता है। परिग्रह का विरमण करके अपरिग्रही रहने की जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसी का नाम अपरिग्रह व्रत है। शान्ति-प्राप्ति के लिए इस व्रत को स्वीकार करना आवश्यक है। सोलहवें तीर्थङ्कर भगवान शान्तिनाथ छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्त्ती थे, लेकिन उन्हें भी शान्ति तभी प्राप्त हुई, जब उन्होंने उस सब को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया। अर्थात्, छः खण्ड पृथ्वी का स्वामित्व भी शान्ति दायक नहीं हुआ, शान्ति तो उसके त्याग से ही मिली।

परिग्रह से सर्वथा निवर्तने के लिए, पहले अभ्यन्तर परिग्रह से निवर्तने की आवश्यकता है। जब तक अभ्यन्तर परिग्रह है, तब तक बाह्य परिग्रह से निवर्तने का विचार तक नहीं हो सकता। बल्कि अभ्यन्तर परिग्रह का आधिक्य होने पर मनुष्य, उस किसी वस्तु बात या विचार को परिग्रह रूप मान ही नहीं सकता, जिसकी गणना परिग्रह में है। 'यह परिग्रह है' ऐसा विचार तभी हो सकता है, जब अभ्यन्तर परिग्रह का जोर कम हुआ होगा। इसलिए सर्वप्रथम अभ्यन्तर परिग्रह से निवर्तने की आवश्यकता है। अभ्यन्तर परिग्रह से आत्मा जितने अंश में निवर्तता जावेगा, उतने ही अंश में बाह्य परिग्रह से भी निवर्तता जावेगा, और जब

अभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल निवर्त जावेगा, तब बाह्य परिग्रह भी न रहेगा।

निग्रन्थ-प्रवचन सुनने का लाभ, परिग्रह का त्याग और अपरिग्रह व्रत का स्वीकार ही है। जिसके स्वीकार किये बिना, निग्रन्थ-प्रवचन का पालन नहीं हो सकता और जब तक निग्रन्थ-प्रवचन का पूर्णतया पालन नहीं किया जाता, तबतक जन्म-मरण से नहीं छूट सकता। इस दृष्टि से भी, परिग्रह त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

शास्त्र का कथन है, कि जब तक इन्द्रिय-भोग के पदार्थ न छूटें, तब तक जन्म-मरण भी नहीं छूट सकता। इन्द्रिय-भोग के पदार्थों के प्रति जब तक किंचित् भी ममत्व है, तब तक जन्म-मरण भी है, और जिन्हें इन्द्रियाँ प्रिय मानती हैं, उन पदार्थों का ममत्व ही परिग्रह है। संसार-चक्र से निकलने की इच्छा रखने-वाले के लिए यह आवश्यक है, कि इन्द्रिय द्वारा भोग्य पदार्थ रूप परिग्रह का त्याग करके, अपरिग्रह व्रत स्वीकार करें।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत को स्वीकार तथा उसका पालन करने से, पारलौकिक लाभ जन्म-मरण से छूटना और मोक्ष प्राप्त करना है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, जन्म-मरण का भय भी छूट जाता है, और किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं रहता है।

इस व्रत को स्वीकार करने से, इहलौकिक लाभ भी बहुत हैं।

जो इस व्रत को स्वीकार करता है, उसकी ओर से संसार के समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं और वह व्रत स्वीकार करने वाला भी सब तरह से निर्भय हो जाता है। फिर उसको किसी भी ओर से, किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसको न तो राजभय रहता है, न चोर भय रहता है, न अग्नि रोग आदि किसी अन्य प्रकार का ही भय रहता है। उसके प्रति संसार के समस्त जीव विश्वास करते हैं, और वह भी सबका विश्वास करता है, तथा सब जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है, एवं सभी को अपना मित्र मानता है। उसके हृदय में शत्रु और मित्र का भेद नहीं रह जाता। लोगों में वह, आदर पात्र माना जाता है। उसके समीप, किसी प्रकार की चिन्ता तो रहती ही नहीं है।

संसार का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो कभी न छूटे। छोड़ने की इच्छा न रहने पर भी, संसार के पदार्थ तो छूटते ही हैं। लेकिन यदि संसार के पदार्थों को इच्छा-पूर्वक छोड़ा जावेगा, तो दुःख भी न होगा, तथा प्रशन्सा भी होगी। और इच्छा-पूर्वक न छोड़ने पर, संसार के पदार्थ छूटेंगे तो अवश्य ही, परन्तु उस दशा में हृदय को अत्यन्त खेद होगा, तथा लोगों में निन्दा भी होगी। इस विषय में एक कहानी भी है, जो इस स्थान के लिए उपयुक्त होने से वर्णन की जाती है।

एक जाट की स्त्री, अपने पति से प्रायः सदा ही यह कहा

करती थी, कि मैं चली जाऊँगी। ज़रा भी कोई बात होती, तो वह कहने लगती कि—मैं जाती हूँ! जाट ने सोचा, कि यह चंचला मेरे यहाँ से किसी दिन अवश्य ही चली जावेगी; लेकिन यदि यह स्वयं मुझको छोड़ जावेगी, तो मेरे हृदय को दुःख भी होगा और लोगों में मेरी निन्दा भी होगी। लोग यही कहेंगे, कि जाट में कोई दोष होगा, इसी से उसकी स्त्री उसे छोड़ कर चली गई। इसलिए ऐसा उपाय करना, कि जिसमें मुझे इसके जाने का दुःख भी न हो और लोगों में मेरी निन्दा भी न हो।

एक दिन पति-पत्नी में फिर कुछ खटपट हुई। उस समय भी जाटिन ने यही कहा, कि मैं तेरे को छोड़ कर चली जाऊँगी! जाट ने जाटिन से कहा, कि—तू बार-बार जाने का भय दिखाया करती है, यह अच्छा नहीं। तेरे को जाना ही है, तो तू खुशी से जा। मैं तेरे को जाने की स्वीकृति देता हूँ। तू मेरी रकम-भाव मुझे सौंप दे, और फिर भले ही चली जा। जाट का यह कथन सुनकर, जाटिन प्रसन्न हुई। उसने, अपने शरीर के आभूषणादि उतार कर जाट को दे दिये। जाट ने उससे कहा, कि अब तू मजे से जा, लेकिन एक काम तो और कर दे! घर में पानी नहीं है। मैं अभी ही घड़ा लेकर पानी भरने जाऊँगा, तो लोग मेरे लिए भी न मालूम क्या-क्या कहेंगे और तेरे लिए भी कहेंगे, कि घर में पानी तक नहीं रख गई! इसलिए एक घड़ा पानी ला

दे, और फिर जहाँ जाने की तेरी इच्छा हो, वहाँ मजे से चली जा।

जाटिन ने सोचा, कि जब यह एक घड़ा पानी ला देने से ही मुझे छुटकारा देता है और मैं इससे सदा के लिए छुटकारा पा जाती हूँ, तब इसका कहना मान लेने में क्या हर्ज है! इस प्रकार सोचकर जाटिन, घड़ा लेकर पानी भरने गई। जाटिन के जाने के पश्चात् जाट भी घर से डंडा लेकर निकला और उसी मार्ग पर जा बैठा, जिस मार्ग से जाटिन पानी लेकर आने वाली थी। जाट ने, दो चार आदमियों को बुलाकर अपने पास बैठा लिया। जैसे ही सिर पर पानी भरा घड़ा लिये हुई जाटिन जाट के सामने आई, वैसे ही जाट कटु-शब्द कहता हुआ उठ खड़ा हुआ। उसने अपने डण्डे से जाटिन के सिर पर का घड़ा फोड़ कर उससे कहा, कि—कुल्टा, मेरे यहाँ से चली जा! तेरे लाये हुए पानी की, मुझे आवश्यकता नहीं है। मैं मेरे घर में तेरे को नहीं रहने दे सकता, इसलिए तेरी इच्छा हो वहाँ जा!

सिर पर का घड़ा फूट जाने से, जाटिन भींग गई। वह जाट से कहने लगी, कि—दुष्ट, मैं तेरे यहाँ रहना ही कब चाहती हूँ? मैं तो तेरी रकम-भाव फेंक कर जाती ही थी, केवल तेरे कहने से पानी भरने गई थी। इस प्रकार जाटिन भी चिल्लाई, परन्तु उसके कथन पर किसी ने भी विश्वास नहीं किया। सब लोगों ने

यही समझा और सब लोग भी यही कहने लगे, कि जाट ने जाटिन को निकाल दिया।

तात्पर्य यह, कि संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जो आत्मा का साथ दे। सभी पदार्थ एक न एक दिन अवश्य छूटने वाले हैं। लेकिन यदि उन पदार्थों को स्वयं छोड़ देंगे, तो हृदय को दुःख भी न होगा और लोगों में निन्दा भी न होगी। किन्तु जैसे जाटिन के विषय में लोग कहने लगे, कि जाट ने जाटिन को त्याग दिया, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थ त्यागने वाले के विषय में भी लोग यही कहेंगे, कि अमुक ने सांसारिक पदार्थ–धन सम्पद् आदि–को त्याग दिया।

सांसारिक पदार्थों को स्वयं त्यागने से, एक लाभ और भी है। भावी सन्तति भी सांसारिक पदार्थों का विश्वास न करेगी, किन्तु उन्हें त्याज्य मानेगी। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों को स्वयं ही त्यागने से, भावी सन्तान को भी लाभ होगा।

सांसारिक पदार्थों से आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है और ये छूटने वाले हैं, यह जान कर ही धन्ना शालिभद्र और भृगु पुरोहित आदि ने अपनी विशाल सम्पत्ति त्याग दी थी। पूर्व के अनेक मुनि महात्माओं एवं महा पुरुषों ने, संसार के किसी पदार्थ से इसी कारण ममत्व नहीं किया और बड़ी सम्पत्ति, बड़ा परिवार तथा विशाल राज्य भी तृणवत् त्याग दिया। वे जानते थे,

कि हम ध्रुव (आत्मा) की उपेक्षा करके अध्रुव (पदार्थ) लेने जावेंगे, तो जो अध्रुव हैं वे तो छूटेंगे ही, साथ ही ध्रुव आत्मा की भी हानि होगी। वे इस बात को समझ चुके थे, कि इन्द्रियों को सुखदायक जान पड़ने वाले सांसारिक पदार्थ, इन्द्रियों की अपेक्षा तुच्छ हैं। इन्द्रियों में जो शक्ति है, वह सांसारिक पदार्थों से बहुत बढ़ कर है। इसलिए इन्द्रियों को सांसारिक पदार्थ के भोगोपभोग में डाल कर इन्द्रियों की शक्ति का दुरुपयोग करना, उसे नष्ट करना, अनुचित है। और इन्द्रियों से बढ़ कर, मन है। इसलिए इन्द्रियों के पीछे मन की शक्ति नष्ट करना भी मूर्खता है। जिन पदार्थों में इन्द्रियाँ सुख मानती हैं, उन पदार्थों को चाहना और मन को इन्द्रियानुगामी बनाना, हानिप्रद है। इन्द्रिय और मन से बड़ा, आत्मा है। इसलिए इन्द्रिय और मन को आत्मा के अधीन रख कर, इनके द्वारा ये ही कार्य करने चाहिएँ, जिनसे आत्मा का हित हो। यह जानने के कारण ही उन्होंने संसार के पदार्थों से ममत्व नहीं किया, किन्तु प्राप्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया।

परिग्रह में सुख मानना, भारी अज्ञान है। जो परिग्रह में सुख मानता है वह परिग्रह को कदापि नहीं त्याग सकता। परिग्रह को सर्वथा या आन्शिक वही त्याग सकता है, जो उसे दुःख का कारण जानता है और रानी कमलावती की

तरह बन्धन रूप मानता है। भृगु पुरोहित द्वारा त्यक्त धन जब राजा इक्षुकार के यहाँ आ रहा था, तब राजा इक्षुकार की रानी कमलावती ने अपने पति से कहा था, कि आप यह क्या कर रहे हैं! आप, दूसरे द्वारा त्यागे गये धन को अपनाकर, वमन की हुई वस्तु को खाने के समान का कार्य क्यों कर रहे हैं? आप यदि यह कहते हों, कि ऐसा विचारा जावे तो फिर धन कहाँ से आवेगा और यह साज शृंगार तथा ठाट बाट कैसे निभेगा, तो इसके उत्तर में मैं यही कहती हूँ, कि मैं इस समस्त साज-शृंगार और ठाट बाट को बन्धन रूप ही मानती हूँ।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा संताण छिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभ नियत्त दोसा॥

अर्थात्—हे महाराजा, जिस प्रकार पींजरे में पक्षी आनन्द नहीं मानता, उसी प्रकार मैं भी इस राज सम्पदा में आनन्द नहीं मानती। किन्तु जिस प्रकार सोने का बना हो अथवा लोहे का बना हो, पक्षी के लिए पींजरा बन्धन रूप ही है, उस पींजरे से मुक्त होने पर ही पक्षी स्वयं को सुखी मानता है, परन्तु विवश होकर परतन्त्रता का दुःख भोगता है, उसी प्रकार मैं भी इस राज्य वैभव को अपने लिए बन्धन रूप ही समझती हूँ। मैं यह मानती हूँ, कि चाहे महान् सम्पत्ति हो अथवा अल्प संपत्ति हो, दोनों ही बन्धन रूप हैं। बल्कि जिसके पास जितनी अधिक

सम्पत्ति है, वह उतने ही अधिक बन्धन में है। इसलिए अब मैं आरम्भ-परिग्रह त्याग कर, विषय कषाय रूप मांस से रहित होकर और स्नेह जाल को तोड़ कर संयम लूँगी, तथा सरल कृत्य करती हुई स्वतन्त्र पक्षी की तरह विचरण करूँगी।

इस प्रकार रानी कमलावती ने, परिग्रह को बन्धन तथा दुःख का कारण माना और परिग्रह को त्याग कर अपने पति सहित संयम स्वीकार कर लिया। रानी कमलावती की ही तरह जो व्यक्ति परिग्रह को बन्धन मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। जो परिग्रह को सुख का कारण समझता है, वह उसे कदापि नहीं त्याग सकता।

अब यह देखते हैं, कि अपरिग्रह व्रत का पालन कब हो सकता है। कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही तभी बन सकता है, जब वह अपने में से इच्छा को बिलकुल ही निकाल दे। उसमें, किसी पदार्थ की लालसा रहे ही नहीं। जब तक किसी भी पदार्थ की लालसा है, तब तक कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता। जिसमें लालसा है—उसके पास कोई स्थूल पदार्थ न हो तब भी—वह परिग्रही ही है। हृदय में पदार्थों की लालसा बनी हुई है, लेकिन पदार्थों के प्राप्त न होने से जो स्वयं को अपरिग्रही कहता या समझता है, वह अपरिग्रही नहीं है, किन्तु परिग्रही ही है। दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में कहा है, कि पदार्थ की

लालसा तो है, परन्तु पदार्थ के न मिलने से वह त्यागी बना हुआ है और पदार्थ को भोग नहीं सकता है, वह त्यागी नहीं है, किन्तु भोगी ही है, भगवती सूत्र में भी गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है, कि सेठ और दरिद्री को अव्रत की क्रिया बराबर ही लगती है। सेठ के पास वहुत पदार्थ हैं और दरिद्री के पास कुछ भी नहीं है, फिर भी दोनों को समान रूप से अव्रत क्रिया लगने का कारण यही है, कि दरिद्री के पास पदार्थ तो नहीं हैं, लेकिन उसमें पदार्थ की लालसा है। इसी कारण दोनों को समान अव्रत की क्रिया लगती है।

मतलब यह, कि अपरिग्रही होने के लिए लालसा मिटाने और सन्तोष करने की आवश्यकता है। लालसा की उत्पत्ति का कारण, इन्द्रियों की काम-भोग में प्रवृति होंगी, अथवा ऐसा करना चाहेंगी, तब संसार के पदार्थों की लालसा भी होगी। मन की चंचलता के कारण ही, इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती हैं। यदि मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो और वह इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियें विषय भोग की और न दौड़ें। मन की चंचलता के कारण ही, इन्द्रियें विषय-भोग की ओर दौड़ती है और फिर लालसा होती है। मन की चंचलता का कारण, ज्ञान का अभाव है। इन्द्रियाँ कौन हैं, उनका आत्मा से क्या सम्बन्ध है, मन तथा आत्मा में क्या अन्तर है और संसार के

पदार्थों का रूप कैसा है, आदि बातें न जानने के कारण ही मन में चंचलता रहती है। इस लिए अपरिग्रह वृत स्वीकार करने एवं उसका पालन करने के लिए, सब से पहले संसार के पदार्थों का रूप और स्वभाव समझ कर मन को स्थिर करने, इन्द्रियों को बहिर्मुखी एवं भोग लोलुप न होने देने, और संसारिक पदार्थों की ओर से निस्पृह तथा निर्ममत्व रहने की आवश्यकता है। शरीरादि जो पदार्थ प्राप्त हैं, और जिनको त्यागा नहीं जा सकता, उनकी ओर से तो निर्ममत्व रहे, और जो पदार्थ अप्राप्त हैं, उनकी ओर से निस्पृह रहे। शरीर की ओर से भी किस प्रकार निर्ममत्व रहे, इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन में कहा है:—

वासी चंदन कप्पोय असणे अणसणे तहा।

अर्थात्—शरीर पर चाहे चंदन का लेप किया जावे, अथवा शरीर को वसूले से छीला जावे, दोनों ही अवस्था में सुख दुःख न मान कर प्रसन्न ही रहे, और जो ऐसा करता है, उसके प्रति रागद्वेष भी न आने दे। इसी प्रकार मानापमान में भी समभाव ही रखे।

इस प्रकार संतुष्ट निस्पृह और निर्ममत्व रहने पर ही, अपरिग्रह वृत का पालन हो सकता है।

अपरिग्रह वृत स्वीकार और पालन करने वाले, निग्रन्थ कहे

जाते हैं। निग्रन्थ का अर्थ है, किसी प्रकार की ग्रन्थि-गांठ या बन्धन में न रहना। परिग्रह, बन्धन है। जो इस बन्धन को तोड़ देता है, वह निग्रन्थ और मोक्ष का पथिक है। मोक्ष प्राप्ति के लिये शास्त्र में जो पांच महाव्रत बताए गए हैं, उनका पालन निग्रंथ ही कर सकता है, और पंच महाव्रत का पालन करने वाला ही निग्रंथ है। यद्यपि पंच महाव्रत में अपरिग्रह भी एक महाव्रत है, लेकिन यह महाव्रत सबसे बड़ा, दुष्कर, और प्रथम के चार महाव्रतों से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाला है। जो इस महाव्रत का पालन करता है, वही इससे पहले के चार महाव्रत का भी पालन कर सकता है और जो प्रथम के चार महाव्रतों का पालन करता है, वही इस महाव्रत का भी पालन कर सकता है। पांचो परस्पर महाव्रत अत्यधिक घनिष्ट संबंध रखते हैं, और यदि विचार किया जावे तो प्रथम के चार महाव्रत इस पांचवे महाव्रत में ही आजाते हैं। बल्कि ब्रह्मचर्य नाम का चौथा महाव्रत तो भगवान पार्श्वनाथ के समय तक, अपरिग्रह व्रत में ही माना जाता था, जिसे भगवान महावीर ने अलग करके, चार महाव्रत के बदले पांच महाव्रत बताये हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले सब प्रकार की इच्छा भी त्याग देते हैं, और शरीरादि जिन आवश्यक पदार्थों को वे नहीं त्याग सके हैं, उनके प्रति भी मूर्छा नहीं रखते। इच्छा और मूर्छा, उनके समीप होती ही नहीं है। वे अपने शरीर अथवा धर्मोपकरण

के प्रति भी, निर्ममत्व ही रहते हैं। न स्वयं के पास ही कोई पदार्थ रखते हैं, न दूसरे के पास ही। वे यदि रखते हैं, तो केवल वे ही धर्मोपकरण रखते हैं, जिन्हें रखने के लिए शास्त्र में आज्ञा दी गई है। उनके सिवा कोई भी पदार्थ नहीं रखते।

यहां ये प्रश्न होते हैं, कि निग्रन्थ साधु धर्मोपकरण तथा शास्त्रादि क्यों रखते हैं? क्या उनकी गणना परिग्रह में नहीं है? इसी प्रकार वस्त्र रखने की भी क्या आवश्यकता है? जब तक वस्त्र हैं तब तक यह कैसे कहा जा सकता है, कि 'परिग्रह नहीं है'? और जब परिग्रह है, तब निग्रन्थ कैसे हुए, और मोक्ष कैसे जा सकते हैं? जो निग्रन्थ हैं, उसे तो दिगम्बर रहना चाहिए और अपने पास वस्त्र या धर्मोपकरण आदि कुछ भी न रखने चाहिएँ!

इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए पहले कही हुई इस बात को दुहरा देना आवश्यक है, कि पदार्थ का नाम परिग्रह नहीं है, किन्तु उनपर ममत्व का नाम परिग्रह है। साधु लोग जो वस्त्र पात्र और धर्मोपकरण रखते हैं, उन्हें वे अपरिग्रह व्रत बतानेवाले भगवान तीर्थङ्कर की आज्ञा से ही रखते हैं, उनकी आज्ञा के विरुद्ध नहीं रखते। भगवान तीर्थङ्कर ने, साधक के लिए जिन वस्तुओं का त्यागना कठिन और रखना आवश्यक समझा, उन वस्तुओं के रखने का विधान कर दिया और यह मर्यादा बना दी, कि साधु इतने वस्त्र इतने पात्र और अमुक-अमुक धर्मोपकरण ही रख सकता है,

जो इससे अधिक लम्बे चोड़े या भारी न हों, और मर्यादानुसार रखे गये वस्त्र पात्र आदि में भी ममत्वभाव न हो। इस प्रकार भगवान ने जिनके रखने का विधान किया है, वे ही वस्त्र पात्रादि रखे जा सकते हैं, दूसरे या अधिक नहीं रखे जा सकते। यदि कोई उस मर्यादा से अधिक रखता है, अथवा मर्यादानुसार रख कर भी उनसे ममत्व करता है, तो वह अवश्य ही परिग्रही माना जावेगा। भगवान, त्रिकालदर्शी थे। वे जानते थे, कि यदि मैं इस प्रकार का विधान न करूँगा और मर्यादा न बांध दूँगा, तो आगे जाकर बहुत अनर्थ होगा, तथा अपरिग्रही रहने के नाम पर वह कार्यवाही होगी, जैसी कार्यवाही परिग्रही ही कर सकता है। इसीलिए भगवान ने कुछ वस्त्र पात्र रखना सामान्यतः आवश्यक बता दिया है, और जिन धर्मोपकरण का रखना आवश्यक बताया है, आगे चलकर—उच्च दशा में—वे भी त्याज्य बताये हैं। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् भी मर्यादानुसार जिन वस्त्रों का रखना आवश्यक है, उच्च दशा में पहुँचने पर उन सब को भी क्रमशः त्यागने का, भगवान ने विधान किया है।

भगवती सूत्र में व्युत्सर्ग का वर्णन आया है। व्युत्सर्ग का अर्थ, त्याग है। मन वचन और काय द्वारा बुरे कामों को त्याग देना, व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद,

बताये गये हैं। ये दोनों भेद, द्रव्य और भाव व्युत्सर्ग के नाम से भी कहे जाते हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं, और भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के, शरीरोत्सर्ग, गणोत्सर्ग, उपद्धि व्युत्सर्ग और भात पानी व्युत्सर्ग ये चार भेद हैं। भाव व्युत्सर्ग के, कषाय-व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग, ये तीन भेद हैं। मोक्ष तो भाव व्युत्सर्ग से ही होता है, लेकिन भाव व्युत्सर्ग के लिए द्रव्य व्युत्सर्ग का होना आवश्यक है। द्रव्य व्युत्सर्ग के बिना भाव व्युत्सर्ग तक नहीं पहुँच सकता। यहाँ व्युत्सर्ग विषयक समस्त बातों का वर्णन आवश्यक नहीं है, यहाँ तो केवल यह बताना है, कि मुनि के लिए—आगे चल कर—शरीर, गण (गच्छ या सम्प्रदाय) उपद्धि (वस्त्र पात्र धर्मोपकरणादि) और भात पानी, ये सब भी त्याज्य हैं। जब तक साधना का प्रारम्भ है, तभी तक इनका रखना आवश्यक है, और जैसे जैसे आगे बढ़ता जावे, वैसे ही वैसे ये भी त्याज्य हैं। आगे चल कर शरीर गच्छ उपद्धि और भोजन-पानी को भी त्याग दे। इस प्रकार उच्च दशा में पहुँचे हुओं के लिए तो शरीर वस्त्र उपद्धि भण्डोपकरण आदि सभी वस्तु त्याज्य हैं—वह तो जिन कल्प ही रहता है—लेकिन जब तक ऐसी क्षमता नहीं है, तब तक के लिए भगवान ने वस्त्र पात्र आदि की मर्यादा बता दी है, और उस मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि रखने का विधान कर दिया है। यदि

भगवान इस प्रकार का विधि-विधान न करते, तो आज के साधुओं को केवल कठिनाई ही न होती, किन्तु उनके द्वारा ऐसे कार्य होते, शरीर-रक्षा आदि के लिए वे ऐसे काम करते, जो वस्त्र पात्रादि रखने के कार्यों से भी बढ़ कर होते।

भगवान ने मुनि के लिए मर्यादानुसार वस्त्र रखने का विधान किया है, और वे मर्यादानुसार वस्त्र रखते भी हैं, फिर भी वे नग्न भावी ही हैं। क्योंकि, उन्हें वस्त्रों से न तो ममत्व ही होता है, न वे अधिक वस्त्र ही रखते हैं। इस लिए वस्त्र होने पर भी वे, भाव में नग्न भावी-अर्थात् नग्न-ही माने जाते हैं। उच्च दशा में पहुँचने पर वे उन थोड़े से वस्त्रों को भी त्याग सकते हैं, लेकिन इससे पहले ही वस्त्र त्याग देना, व्यवहारिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। शरीर और गण का व्युत्सर्ग पहले बताया है, और उपधि का व्युत्सर्ग उसके पश्चात् है। जब शरीर पर बिलकुल ममत्व न रखे, और सम्प्रदाय से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे, किन्तु असंग रहता हो, अर्थात् वन में या गुफाओं में निवास करता हो, तभी उपधि का व्युत्सर्ग कर सकता है। शरीर से तो ममत्व है। शरीर की रक्षा का प्रयत्न तो करते हैं। लेकिन गच्छ को छोड़ बैठे; अथवा शरीर से भी ममत्व है और गच्छ में भी हैं, चेला-चेली अनुयायी आदि बनाते रहते हैं, और वस्त्र पात्र आदि उपधि छोड़ बैठे, तो यह वैसा ही कार्य होगा,

जैसा कार्य पगड़ी पहने रहने और धोती त्याग देने का हो सकता है।

तात्पर्य यह, कि शास्त्र में जिनकी आज्ञा दी गई है, उन वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरण को रखने के कारण, निग्रन्थ लोग परिग्रही नहीं कहे जा सकते। निग्रन्थ होने पर भी किसी को कब परिग्रही कहा जा सकता है, और निग्रन्थ भी किस प्रकार परिग्रही हो जाता है, यह बात थोड़े में बताई जाती है।

बहुत से लोग, अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर और संसार के स्थूल पदार्थों का ममत्व त्याग कर भी, फिर परिग्रह में पड़ जाते हैं। वे स्थूल पदार्थों का ममत्व तो छोड़ देते हैं। लेकिन उनके हृदय में मान बड़ाई आदि की चाल बनी रहती है, अथवा बढ़ जाती है। कहावत ही है—

> कंचन तजिवो सरल है, सरल तिरिया को नेह।
> मान बढ़ाई ईर्षा, दुर्लभ तजिवो येह॥

अर्थात्—कनक कामिनी को छोड़ना कठिन नहीं है, लेकिन मान बढ़ाई की चाह और ईर्षा को त्यागना बहुत ही कठिन है।

संसार में कनक (सोना) त्यागना बहुत कठिन माना जाता है। यद्यपि सोना खाने या शीत ताप वर्षा से बचने के काम का पदार्थ नहीं है, न उसमें गन्ध ही है, फिर भी वह बहुत मोहक पदार्थ है,

तो एक बहाना मात्र है। हां कोई कोई महात्मा ऐसे भी हैं जो धर्म वृद्धि के लिए ही शिष्य शिष्या बनाते हैं, लेकिन उन में शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा नहीं होती।

शिष्य-शिष्या की ही तरह, कई साधु-साध्वियों के लिए, सम्प्रदाय और उसकी रूढ़ि परम्परा भी परिग्रह रूप हो जाती है। यह मेरी सम्प्रदाय या परम्परा है, इसलिए चाहे यह सम्प्रदाय या परम्परा ठीक न भी हो, तब भी मैं इसकी वृद्धि ही करूंगा, इसकी रक्षा का ही प्रयत्न करूंगा, कहीं किसी के द्वारा मेरी सम्प्रदाय की कोई क्षति न हो जावे, मुझे अपनी रूढ़ि परम्परा न त्यागनी पड़े आदि प्रकार की चिन्ता और ऐसा भय भी परिग्रह रूप ही है। इसी प्रकार विद्या सूत्र ज्ञान आदि भी, कभी कभी परिग्रह रूप हो जाता है। मैं इतने सूत्रों का जानकार हूँ, मैं अमुक-अमुक विद्या जानता हूँ आदि अहंभाव, विद्या और सूत्रज्ञान को भी परिग्रह रूप बना देता है।

कुछ साधुओं को, समाज के धन की भी चिन्ता रहती है। मेरे अनुयायियों का धन खर्च होता है, इस विचार से कई साधु चिन्तित रहते हैं, और अनुयायियों के धन की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। यह भी एक परिग्रह ही है। यदि इसको परिग्रह न कहा जावेगा, तो कुटुम्ब का वृद्ध आदमी अपने कुटुम्ब के द्रव्य की

रक्षा को जो चिन्ता करता है—जो प्रयत्न करता है—वह भी परिग्रह न कहा जावेगा।

कुछ साधुओं को, अपनी प्रसिद्धि की बहुत इच्छा रहती है। इसके लिए वे स्वयं ही, अथवा अनधिकारियों या अनुयायियों द्वारा कोई उपाधि प्राप्त करके अपने नाम के साथ उपाधि लगा लेते हैं, लेख और पुस्तकें दूसरों से लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करवाते हैं, सामाजिक कार्यों में भी भाग लेते हैं, अथवा ऐसे ही अन्य कार्य भी करते हैं। लेकिन वस्तुतः प्रसिद्धि की इच्छा भी, परिग्रह ही है। जब तक इस प्रकार का भी परिग्रह है, तब तक अपरिग्रह व्रत का पूर्णतया पालन हो ही नहीं सकता। अपरिग्रह वृत का पालन तो तभी हो सकता है, जब हृदय में किसी भी प्रकार की चाह न रहे, किसी भी वस्तु से ममत्व न हो, किसी भी प्रकार की चिन्ता न हो, न किसी भी तरह का भय ही रहे, किन्तु निस्पृह निर्ममत्व तथा चिन्ता भय रहित रहे। साथ ही भगवान की आज्ञा से जो वस्त्र पात्र एवं उपद्धि रखता है, जिस सम्प्रदाय (गच्छ) में रह कर धर्म साधन करता है, और जिस शरीर में आत्मा बस रहा है, उसके लिए भी यह भावना करता रहे, कि मैं अब इन सब से भी ममत्व न रखूंगा, तथा वह दिन कब होगा, जब मैं जीवन के लिये आवश्यक माना जाने वाला अन्न पानी भी त्याग दूंगा और जीवन मुक्त हो जाऊँगा। और

जो इस प्रकार रहता है, वही अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला है। इस व्रत को जिसने स्वीकार किया है, उसके हृदय में संयोग वियोग का सुख दुःख तो होना ही न चाहिए, न स्वर्गादि के सुखों की अभिलाषा ही होना चाहिये।

५
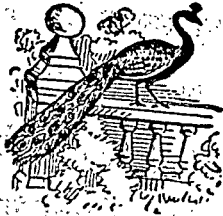
इच्छा परिमाण व्रत

परिग्रह का रूप और उससे होने वाली हानि का वर्णन किया जा चुका है। साथ ही अपरिग्रह व्रत का रूप भी बताया जा चुका है। सर्वथा आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले के लिए तो, अपरिग्रही बनना और किसी भी सांसारिक पदार्थ के प्रति इच्छा मूर्छा न रखना ही आवश्यक है, लेकिन जो लोग संसार-व्यवहार में बैठे हुए हैं, वे भी क्रमशः मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकें, इसलिए भगवान ने ऐसे लोगों के वास्ते इच्छा परिमाण व्रत बताया है। संसार व्यवहार में रहने वाले लोगों के लिए, सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग होना कठिन है। उनमें से इच्छा और मूर्छा का बिलकुल अभाव नहीं हो सकता, न वे सांसारिक पदार्थों से असंग ही रह सकते हैं। संसार-व्यवहार में रहने के कारण,

उनके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह और सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्छा का होना भी स्वाभाविक समझा जाता है। संसार में कहावत ही है, कि 'साधु के पास कौड़ी हो तो वह कौड़ी का, और गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो वह कौड़ी का।' एक कवि भी कहता है:—

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाष्यते।
भृत्यः कुप्यति नानु गच्छति सुतः कान्ता च ना लिंगते॥
अर्थ प्रार्थन शंकया न कुरुते ऽप्यालाप मात्रं सुहृत्।
तस्मादर्थ मुपार्जयस्व च सखे! ह्यर्थस्य सर्मे वशाः॥

अर्थात्—धन न होने पर, माता निन्दा करती है पिता आदर नहीं करता, भाई बोलते नहीं हैं, पुत्र आज्ञा का पालन नहीं करते, नौकर चाकर नाराज रहते हैं, स्त्री स्पर्श नहीं करती, और 'यह कुछ मांगने न लगे' इस भय से मित्र लोग कोरी बात भी नहीं करते। इसलिये हे मित्र, धन कमाओ। सब लोग धन के ही वश हैं।

इस प्रकार जैसे संसार–व्यवहार से निकल हुए साधु के लिए किसी भी सांसारिक पदार्थ का रखना निन्द्य समझा जाता है, उसी प्रकार सांसारिक लोग उस संसार-व्यवहार में रहे हुए की भी निन्दा अवहेलना करते हैं, जो सांसारिक पदार्थों से हीन है। जो संसार व्यवहार में है, उसके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह

आवश्यक माना जाता है, और दूसरी ओर धर्मशास्त्र सांसारिक पदार्थों को त्याज्य बतलाते हैं। ऐसी दशा में गृहस्थों के लिए ऐसा कौन-सा मार्ग रह जाता है, जिसको अपनाने पर वे संसार-व्यवहार में हीन दृष्टि से भी न देखे जावें, और धार्मिक-दृष्टि से भी पतित न समझे जावें ? इस बात को दृष्टि में रख कर ही, भगवान ने इच्छा-परिमाण व्रत बताया है। भगवान जानते थे, कि गृहस्थ लोग इच्छा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, और जिस दिन वे इच्छा का सर्वथा त्याग कर देंगे, उस दिन से संसार-व्यवहार में रहना भी त्याग देंगे, या संथारा कर लेंगे। लेकिन संसार-व्यवहार में रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध कठिन है। ऐसी दशा में यदि उन्हें भी अपरिग्रह व्रत ही बताया जावेगा, तो उनसे अपरिग्रह व्रत का पालन भी न होगा, और दूसरी ओर उनके द्वारा अनेक अनर्थ भी होंगे तथा उन्हें कठिनाई भी उठानी होगी। इसलिए जब तक उनमें संसार-व्यवहार से सर्वथा निकलने की क्षमता न हो, उनमें पूर्ण सन्तोष और पूर्ण धैर्य न हो, तब तक उन्हें अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने का कहना उन पर ऐसा बोझ डालना है, जिसे वे उठा नहीं सकते। इस प्रकार के विचारों से भगवान ने, गृहस्थों के लिए इच्छा परिमाण व्रत बताया है।

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है, सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित करना। यह निश्चय करना, कि

मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूँगा। इस प्रकार की जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम 'इच्छा परिमाण व्रत' है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के लिए, संसार के समस्त पदार्थों का विरमण करना होता है, संसार के समस्त पदार्थ त्यागने होते हैं, अपरिग्रही होना होता है, लेकिन इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए संसार के समस्त पदार्थ नहीं त्यागने पड़ते। हाँ वे पदार्थ तो अवश्य त्यागने होते हैं, जिनकी गणना महान् परिग्रह में है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को इस बात की प्रतिज्ञा करनी होती है, कि मैं इन पदार्थों से अधिक पदार्थ अपने अधिकार में न रखूँगा, और इन पदार्थों के सिवा किसी पदार्थ की इच्छा भी न करूँगा। इस प्रकार देश से परिग्रह का विरमण करके महान् परिग्रही न होने के लिए जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम इच्छा परिमाण व्रत है। इस व्रत को स्वीकार करने के लिए, पदार्थों की मर्यादा की जाती है। कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर से अपनी इच्छा को रोक लेना ही, इच्छा-परिमाण व्रत है। इस व्रत का नाम, परिग्रह परिमाण व्रत है।

अब यह बताते हैं, कि इस व्रत को स्वीकार करने वाला किन किन पदार्थों के विषय में मर्यादा करता है। इसके लिए शास्त्रकारों ने परिग्रह के दो भेद कर दिये हैं, सचित परिग्रह और

अचित परिग्रह। सचित परिग्रह उस सांसारिक पदार्थ—या पदार्थों का नाम है, जिसके भीतर जान है। जैसे मनुष्य पशु पत्ती पृथ्वी वनस्पति आदि। इस भेद में कुटुम्ब के लोग दास दासी, हाथी घोड़े गाय बैल भैंस आदि पशु, कीर मोर चकोर आदि पत्ती, किसी और प्रकार के जीव, भूमि नदी तालाब वृक्ष अन्न आदि वे सभी प्रकार की वस्तुएँ आ जाती हैं, जिन में जीव है। जो पदार्थ इस भेद में आने से शेष रह जाते हैं, यानी जो जानदार नहीं हैं, उनकी गणना अचित परिग्रह में है। सोना चाँदी वस्त्र पात्र औषध भेषज घर हाट नोहरा बरतन आदि समस्त वे पदार्थ जिनमें जान नहीं है, किन्तु जो निर्जीव हैं, अचित परिग्रह में हैं। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे या तो सचित हैं, या अचित हैं। इन दोनों भेद में सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, संसार के समस्त पदार्थों के विषय में यह नियम करता है, कि मैं अमुक पदार्थ इस परिमाण से अधिक अपने अधिकार में न रखूँगा, अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार में रखूँगा ही नहीं, और इस परिमाण से अधिक की इच्छा भी न करूँगा।

जन साधारण की सुविधा के लिए शास्त्रकारों ने, सचित और अचित परिग्रह को नव भागों में विभक्त कर दिया है। वे नव भेद, 'नव प्रकार का परिग्रह' नाम से प्रख्यात हैं, और उनके नाम ये हैं—

क्षेत्र[1] (खेत आदि भूमि) वास्तु[2] (निवास योग्य स्थान) हिरण्य[3] (चाँदी) सुवर्ण[4] (सोना) धन[5] (सोने चाँदी के ढले हुए सिक्के, अथवा घी गुड़ शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) धान्य[6] (गेहूँ चावल तिल आदि) द्विपद[7] (जिनके दो पाँव हों, जैसे मनुष्य और पक्षी) चौपद[8] (जिनके चार पाँव हों, जैसे हाथी घोड़े गाय बैल भैंस बकरी आदि) और कुप्य[9] (वस्त्र पात्र औषध वासन आदि)। इन नव भेदों में, सचित और अचित, अथवा जड़ और चैतन्य, अथवा स्थावर और जंगम वे सभी पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे मनुष्य को ममत्व होता है, अथवा मनुष्य जिनकी इच्छा करता है। क्षेत्र से मतलब उत्पादक खुली भूमि से है। इसलिए क्षेत्र में, खेत बाग पहाड़ खदान चरागाह जंगल आदि समस्त भूमि आ जाती है। यह व्रत स्वीकार करने वाले को क्षेत्र के विषय में मर्यादा करना, कि मैं इतनी भूमि—खेत बाग पहाड़ या गोचर भूमि आदि—से अधिक अपने अधिकार में भी नहीं रखूँगा, न इससे अधिक की इच्छा ही करूँगा। दूसरा भेद वास्तु है। वास्तु का अर्थ है गृह। जमीन के भीतर या ऊपर या भीतर ऊपर बने हुए घरों के विषय में भी परिमाण करना, कि मैं इतने गृह—जो इतने से अधिक लम्बे चौड़े और ऊँचे न होंगे, तथा जिनका मूल्य इतने से अधिक न होगा—से अधिक गृह अपने अधिकार में न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। धन से मतलब सिक्का और अन्य मूल्यवान

वस्तुएँ मणि माणिक गुड़ घी शक्कर आदि—हैं। इनके विषय में भी परिमाण करना, कि मैं ये सब या इनमें से अमुक-अमुक वस्तु इतने परिमाण और इतने मूल्य से अधिक की न रखूँगा, न इच्छा ही करूँगा। धान्य से मतलब अन्नादि है; जैसे धान चावल गेहूँ चना तुवर तिल आदि। इन सब के लिए भी मर्यादा करना, कि मैं धान्य में से अमुक धान्य इतने परिमाण से या इतने मूल्य से अधिक का अपने अधिकार में न रखूँगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा। हिरण्य से मतलब चाँदी है। चाँदी के विषय में भी यह परिमाण करना, कि मैं चाँदी अथवा चाँदी की वस्तुएँ इतने परिमाण से अधिक न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार सोने के विषय में भी परिमाण करना, कि इस परिमाण से अधिक सोना या सोने से बनी हुई वस्तुएँ न रखूंगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इन सब की ही तरह द्विपद की भी मर्यादा करना। द्विपद में अपनी स्त्री, अपने पुत्र और अन्य सम्बन्धी भी आजाते हैं, तथा दास दासी नौकर चाकर आदि भी आ जाते हैं। साथ ही मयूर हंस कीर मोर चकोर आदि पत्ती भी आ जाते हैं। मतलब यह, कि जिनके दो पाँव हैं, उन मनुष्य अथवा पक्षी के विषय में भी यह मर्यादा करना, कि मैं इतने से अधिक न रखूंगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार चतुष्पद के लिए

भी परिमाण करना। चतुष्पद से मतलब उन जीवों से है, जिनके चार पाँव होते हैं, और जो पशु कहलाते हैं। पशुओं के विषय में भी यह मर्यादा करना, कि इतने हाथी घोड़े ऊँट गाय बैल भैंस खच्चर गधे भेड़ बकरी हरिण सिंह आदि, से अधिक न तो रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इन आठ भेदों में आने से जो पदार्थ शेष रह जाते हैं, उनकी गणना कुप्य में है। जिनकी इच्छा होती है या हो सकती है, और जो गृहस्थी में काम आते हैं या आ सकते हैं, उन सब पदार्थों का भी परिमाण करना। कुप्य का अर्थ साधारणतया गृहस्थी का फैलाव (घर बाखरा, अर्थात् घर में जो छोटी बड़ी चीजें होती हैं) किया जाता है। इसलिए इसका भी परिमाण करना, कि मैं इतने से अधिक का घर बाखरा न रखूँगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इस प्रकार समस्त वस्तुओं के विषय में यह मर्यादा करना, कि मैं इतने परिमाण से अधिक कोई वस्तु न तो अपने अधिकार में रखूँगा ही न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा, इच्छा-परिमाण या परिग्रह-परिमाण व्रत कहलाता है। जो परिग्रह से सर्वथा नहीं निवर्त सकते, उन गृहस्थों को यह व्रत तो स्वीकार करना ही चाहिए। इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गार्हस्थ्य-जीवन में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं आती, और अनन्त इच्छा भी

नहीं रहती। इस व्रत को स्वीकार करनेवाला, महा परिग्रही नहीं कहलाता, किन्तु अल्प परिग्रही कहलाता है। इस कारण यह व्रत स्वीकार करनेवाले की गणना, धार्मिक लोगों में होती है। वह व्यक्ति, धर्मात्मा माना जाता है। ऐसा व्यक्ति, महान् पाप से बच कर मोक्ष-मार्ग का पथिक होता है।

वैसे तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना ही श्रेयस्कर है, भगवान महावीर का उपदेश भी यही है; लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, फिर भी भगवान के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते हैं, उनको भी लाभ ही होता है। भगवान के कथन पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करने से किस प्रकार लाभ होता है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक राजा और उसके मन्त्री के यहाँ पुत्र न था। राजा सोचा करता था, कि मेरे पश्चात् प्रजा की रक्षा का भार कौन उठावेगा? इसी प्रकार मन्त्री के भी कोई पुत्र नहीं है, अतः मन्त्री के बाद मन्त्रित्व भी कौन करेगा? राजा और मन्त्री, इसी प्रकार के विचारों से पुत्र के लिए चिन्तित रहा करते थे। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी किये, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए।

राजा और मन्त्री ने सुना, कि नगर के बाहर एक सिद्ध पुरुष आये हैं, जो बहुत करामाती हैं। वे शायद हमारी अभिलाषा पूर्ण होने

का उपाय बता सकें, यह सोच कर राजा और मन्त्री उस सिद्ध के पास गये। उचित अभिवादन और कुशल प्रश्न के पश्चात् राजा उस सिद्ध से कहने लगा, कि महाराज, मेरे पुत्र नहीं है। मेरे को इस बात की सदा चिन्ता रहा करती है, कि मेरे पश्चात राज धर्म का पालन कौन करेगा और मैं प्रजा की रक्षा का भार किस को सौंपूँगा! इसी प्रकार मेरे इस मन्त्री के भी पुत्र नहीं है। कृपा करके आप कोई ऐसा उपाय बताइये, कि जिससे हमारी यह चिन्ता दूर हो और हमारे पश्चात प्रजा को समुचित प्रकारेण रक्षा हो।

राजा की बात सुन कर सिद्ध समझ गया, कि इन दोनों को अपने अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता है। उसने राजा से कहा, कि तुम दोनों योग्य उत्तराधिकारी हो चाहते हो न?

राजा—हां।

सिद्ध—यदि पुत्र हुए विना किसी दूसरे उपाय से योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हो जावे तो?

राजा—हमें कोई आपत्ति नहीं है।

सिद्ध—इसके लिये, मैं उपाय बताता हूं उसके अनुसार कार्य करने से तुम दोनों को योग्य उत्तराधिकारी मिल जावेंगे। यदि तुम दोनों के यहां पुत्र हुए भी, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे योग्य ही होंगे, लेकिन मैं जो उपाय बताता हूँ उसके द्वारा तुम्हें योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त होंगे।

राजा—यह तो प्रसन्नता की बात है।

सिद्ध—तुम लोग, अपने नगर में किसी दिन भिखमंगों को खूब टुकड़े बंटवाना। फिर सब भिखमंगों को एक जगह एकत्रित करना और उन में से एक एक को निकाल कर उन से कहते जाना, कि तुम अपने पास के टुकड़े फेंक दो, तो हम तुमको राज्य देंगे। जो भिख मंगा तुम्हारे इस कथन पर विश्वास न करे, उसको जाने देना। जो विश्वास तो करे, फिर भी भविष्य के लिए कुछ टुकड़े रहने देकर शेष फेंक दे, और जो पूरी तरह विश्वास करके सब टुकड़े फेंक दे, उन दोनों को रख कर बाकी सब भिखमंगों को चले जाने देना। इन दोनों में से जिसने सब टुकड़े फेंक दिये हों, उसको राजा बना देना और जिसने कुछ रख कर शेष फेंक दिये हों, उसे मन्त्री बना देना। वे दोनों, तुम दोनों के योग्य उत्तराधिकारी होंगे और उनके द्वारा प्रजा की भी पूरी तरह रक्षा होगी।

राजा और मन्त्री को सिद्ध पर विश्वास था, इसलिए उन्होंने सिद्ध का कथन स्वीकार किया। सिद्ध को अभिवादन करके राजा और मन्त्री, नगर को लौट आये। कुछ दिनों बाद राजा ने नगर में यह घोषित करा दिया, कि आज अमुक समय से अमुक समय तक भिखमंगों को खूब रोटी टुकड़े बांटे जावें। राजा और मंत्री ने, अपनी ओर से भी भिखमंगों को खाने की बहुतसी चीजें

बंटवाईं। फिर सब भिखमङ्गों को एक बाड़े में एकत्रित किया गया। राजा और मन्त्री उस बाड़े के द्वार पर बैठ गये, तथा हुक्म दिया, कि एक एक भिखारी को बाहर आने दिया जावे। राजा की आज्ञानुसार एक-एक भिखारी बाड़े से बाहर आने लगा। जो भिखारी बाहर आता, उस से राजा कहता, कि तू अपने पास के टुकड़े फेंक दे तो मैं तेरे को मेरा राज्य दूँगा। राजा, प्रत्येक भिखारी से ऐसा कहता, लेकिन उन लोगों को राजा के कथन पर विश्वास ही न होता। वे सोचते, कि बहुत दिनों के बाद तो हमें इतना खाने को मिला है! राजा का क्या भरोसा! यह अभी तो राज्य देने को कहता है, लेकिन यदि इसने राज्य न दिया, तो हम इसका क्या कर लेंगे! पास के टुकड़े फेंक कर, और भूखों मरेंगे!

इस प्रकार विचार कर भिखमंगे लोग राजा के कथन के उत्तर में कहते, कि—'हे हुजूर, मेरे भाग्य में राज्य कहाँ? मेरे भाग्य में तो टुकड़ा माँग कर खाना है।' कोई भिखारी इस तरह कहता और कोई दूसरी तरह कहता, लेकिन राजा के कथन पर विश्वास करके किसी ने भी टुकड़े नहीं फेंके। राजा, इस तरह के भिखारी को जाने देता और दूसरे को बुलाता। होते होते एक भिखारी आया। राजा ने उससे भी टुकड़े फेंक देने के लिए कहा। राजा का कथन सुन कर उस भिखारी ने सोचा, कि यह राजा है,

झूठ व्रत कह कर मेरे पास के टुकड़े फेंकवाने से इसको क्या लाभ हो सकता है ! लेकिन दूसरी ओर मैंने अभी कुछ भी नहीं खाया है। यदि इसने टुकड़े फिंकवाने के बाद राज्य न दिया, तो मुझे अभी ही भूखों मरना पड़ेगा। इसलिए सब टुकड़े फेंकना ठीक नहीं।

इस प्रकार सोच कर उस भिखारी ने, कुछ अच्छे-अच्छे टुकड़े रख लिये और बाकी के टुकड़े फेंक दिये। राजा ने उस भिखारी को बैठा लिया।

अनेक भिखमंगों के बाद एक भिखमंगा फिर ऐसा ही आया। राजा ने उससे भी ऐसा ही कहा। उस भिखारी ने सोचा, कि यह राजा है। यह टुकड़े फेंक देने पर राज्य देने का कहता है, फिर भी यदि टुकड़े फेंकने पर राज्य न देगा, तो जितने टुकड़े फिंकवाता है उतने टुकड़े तो देगा! और कदाचित उतने टुकड़े भी न देगा, तो जाने तो देगा! मैं, और टुकड़े माँग लूँगा। इस प्रकार विचार कर, उसने अपने पास के सब टुकड़े फेंक दिये। राजा, उस भिखारी को तथा पहले वाले भिखारी को साथ लेकर महल को चल दिया, और शेष सब भिखारियों को भी चला जाने दिया। दोनों भिखारियों को महल में लाकर राजा ने, सब टुकड़े फेंक देने वाले भिखारी को अपना उत्तराधिकारी बनाया, और थोड़े टुकड़े रख लेनेवाले भिखारी को मन्त्री का उत्तराधिकारी बनाया।

आगे जाकर दोनों भिखारी, योग्य राजा तथा मन्त्री हुए और प्रजा का पालन करने लगे।

यह दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त के अनुसार, भगवान महावीर राजा हैं और संसार के जीव सांसारिक-पदार्थ रूपी टुकड़ों के भिखारी हैं। भगवान महावीर संसार के जीवों से कहते हैं, कि जो कोई इन सांसारिक-पदार्थ रूपी टुकड़ों को फेंक देगा, उसे मेरा पद प्राप्त होगा। भगवान महावीर के इस कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, फिर भी जो लोग भगवान के कथन पर विश्वास नहीं करते, तथा सांसारिक-पदार्थों को नहीं त्यागते, वे तो भिखारी के भिखारी ही बने रहते हैं, और जो सांसारिक पदार्थों को सर्वथा त्याग देते हैं—परिग्रह से निवर्त जाते हैं-वे सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग सांसारिक पदार्थ रूपी टुकड़ों को सर्वथा नहीं त्याग सकते, उनको उचित है, कि वे भिखारियों में तो न रहें! महा परिग्रह रूप खराब-खराब टुकड़े फेंक कर, श्रावक पद रूप भगवान के पद का मन्त्रित्व तो प्राप्त करें!

तात्पर्य यह, कि जब तक हो सके तब तक तो भगवान महावीर के उपदेशानुसार समस्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रही होना ही अच्छा है। आत्मा का निकट कल्याण तो इसी में है। फिर भी यदि परिग्रह को सर्वथा नहीं त्याग सकते, तो महापरिग्रही तो न रहो! महापरिग्रह तो त्याग दो! ऐसा करने वाला, साधु

नहीं तो श्रावक तो होगा ही, और मोक्ष का पथिक भी कहलावेगा। सांसारिक-पदार्थ रूपी टुकड़ों से जितना भी ममत्व है, प्रत्येक दृष्टि से उतनी ही हानि भी है। सांसारिक पदार्थ, मोक्ष रूपी राज्य से तो वञ्चित रखते ही हैं, साथ ही उनके कारण इसलोक में भी अनेक प्रकार की चिन्ता, अनेक प्रकार के दुःख और सब प्रकार का पाप होता है। इसलिए सांसारिक-पदार्थों को जितना भी त्यागा जा सके, त्यागना चाहिए।

इच्छा परिमाण व्रत को, तीन करण तीन योग में से जिस तरह भी चाहा जावे, स्वीकार किया जा सकता है और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की भी जैसी चाहे वैसी मर्यादा की जा सकती है। फिर भी यह व्रत इच्छा को मर्यादित करने का है, और इच्छा का उद्गम स्थल मन है, इसलिए इस व्रत को एक करण तीन योग से स्वीकार करना ही ठीक है। इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में भी मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं द्रव्य से अमुक अमुक वस्तु के सिवा अधिक की इच्छा नहीं करूँगा, न इनके सिवा और वस्तु अपने अधिकार में ही रखूँगा। क्षेत्र से, अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा भी नहीं करूँगा, न अमुक क्षेत्र से बाहर की कोई वस्तु मर्यादा में ही रखूँगा। काल के विषय में भी मर्यादा करना, कि मैं इतने दिन मास वर्ष या जीवन भर इन-इन चीजों से अधिक की न तो इच्छा ही करूँगा, न अपने

अधिकार में ही रखूँगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना।

जो परिग्रह को दुःख तथा बन्धन का कारण मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। लेकिन जो ऐसा मानता तो है फिर भी स्वयं को सम्पूर्ण परिग्रह त्यागने में असमर्थ देखता है, वह इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करता है। जो परिग्रह को दुःख तथा बन्धन का कारण मान कर इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करता है, वह विस्तीर्ण मर्यादा नहीं रखता, किन्तु संकुचित मर्यादा रखता है। क्योंकि उसका ध्येय परिग्रह को सर्वथा त्यागना होता है, और इस ध्येय तक तभी पहुँचा जा सकता है, जब ममत्व को अधिक से अधिक घटाया जावे।

इच्छा परिमाण व्रत का उद्देश्य ममत्व को घटाना है, इसलिए मर्यादा अधिक से अधिक संकुचित रखनी चाहिए। विस्तीर्ण मर्यादा रखना ठीक नहीं। मर्यादा जैसी संकुचित होगी, दुःख और संसार-भ्रमण भी वैसा ही संकुचित हो जावेगा, तथा मर्यादा जितनी विस्तीर्ण होगी, दुःख और जन्म-मरण भी उतना ही अधिक रहेगा। इसलिए यथा शक्ति मर्यादा को अधिक से अधिक संकुचित रखना चाहिए, और ऐसा करने के लिए यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अधिक परिग्रह अधिक दुःख का कारण है, तथा अल्प परिग्रह अल्प दुःख का कारण है, लेकिन परिग्रह है

दुःख का ही कारण; और इससे जितना निवर्तता है, उतना ही दुःख-मुक्त होता है।

परिग्रह परिमाण व्रत में विस्तीर्ण मर्यादा रखने से पारलौकिक हानि तो है ही; साथ ही मर्यादा में रखा हुआ धन कभी न कभी तो त्यागना ही होता है। उसको कोई साथ तो ले नहीं जा सकता। सिकन्दर, अपने समय का बहुत बड़ा बादशाह माना जाता था। उसने यूरोप और एशिया का अधिकान्श भाग जीत लिया था, और वह उस भाग का बादशाह था। फिर भी वह मरने पर उस राज्य सम्पदा में से कुछ भी अपने साथ न ले जा सका। सब कुछ यहीं रह गया। सिकन्दर ने यह देख कर, कि मैं मर रहा हूँ और कोई सम्पत्ति मेरा साथ न देगी, यह आज्ञा दी, कि मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखे जावें। उसने अपने चोबदार को इस आज्ञा का कारण भी बता दिया था। इस प्रकार की आज्ञा देकर, सिकन्दर मर गया। उसका जनाजा निकला। सिकन्दर के दोनों हाथ जनाजे से बाहर निकले हुए थे। रीति-परम्परा के विरुद्ध बादशाह के हाथ जनाजे से बाहर निकले हुए देख कर, लोगों को बहुत आश्चर्य हो रहा था।

जब जनाजा चौराहे पर पहुँचा, तब चोबदार ने आवाज देकर सब लोगों से कहा, कि आपके बादशाह के हाथ जनाजे से बाहर क्यों निकले हुए हैं, इसका कारण सुन लीजिये। सब लोग चोब-

दार की बात सुनने के लिए खड़े हो गये। चोबदार कहने लगा, कि बादशाह ने अपने हाथ जनाजे से बाहर रखने की आज्ञा यह बताने के लिए दी थी, कि 'मैंने अनेक देशों को जीता, बहुत-सी सम्पत्ति एकत्रित की और इसके लिए बहुत लोगों को मारा, लेकिन मैं मौत को न जीत सका। इस कारण आज मैं तो जा रहा हूँ, परन्तु जिस राज्य सम्पदा के लिए मैंने यह सब किया था, वह यहीं रह गई है। देख लो, ये मेरे दोनों ही हाथ खाली हैं; इसलिए जैसी गल्ती मैंने की, वैसी गल्ती और कोई मत करना।'

चोबदार द्वारा सिकन्दर की कही हुई बात सुन कर, लोगों को बहुत प्रसन्नता हुई। सब लोग, इस उपदेश के लिए सिकन्दर की प्रशन्सा करने लगे। इस घटना के कारण ही यह कहा जाता है कि—

लाया था क्या सिकन्दर और साथ ले गया क्या ?
थे दोनों हाथ खाली बाहर कफन से निकले।

तात्पर्य यह, कि चाहे कैसी भी बड़ी सम्पत्ति हो, मरने के समय तो छोड़नी ही होगी; और जिसके पास जितनी ज्यादा सम्पत्ति है, मरने के समय उसको उतना ही ज्यादा दुःख होगा। इसलिए पहले ही अधिक से अधिक धन-सम्पदा क्यों न त्याग दी जावे, जिसमें मरने के समय भी आनन्द रहे, और मरने के पश्चात् भी। इस व्रत को स्वीकार करने में सांसारिक पदार्थों का

का जितना भी त्याग किया जा सके, मर्यादा को जितनी कम किया जा सके और इच्छा को जितना घटाया जा सके, उतना ही अच्छा है। यह न हो, कि सीमा को पहले ही बहुत बढ़ा कर लिया जावे। उदाहरण के लिए पास में सम्पत्ति तो केवल पाँच ही रुपये हैं, और व्रत में लाख रुपये की मर्यादा करता है। यद्यपि लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग करना तो अच्छा ही है, फिर भी ऐसा करने से यह तो स्पष्ट है, कि पास तो पाँच ही रुपये हैं, परन्तु इच्छा लाख रुपये की है और इच्छा का यह रूप ही है, कि जब तक लाख रुपये नहीं हैं तबतक लाख रुपयों की चाह रहती ही है। इसलिए ऐसा करना वर्त्तमान में तृष्णा को रोकना नहीं है, किन्तु यही कहा जावेगा, कि वर्तमान में तो तृष्णा बढ़ी हुई है, परन्तु तृष्णा को सीमित करने का इच्छुक अवश्य है। इस प्रकार का व्रत, विशेष प्रशन्सनीय और प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। प्रशन्सनीय और प्रशस्त तो वही व्रत है, जिसमें इच्छा को इतना सीमित किया जावे, जिससे अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निभ ही नहीं सकता।

इस व्रत के लिए, प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा करना और जहाँ तक हो सके मर्यादा की सीमा बहुत संकुचित रखना। हो सके तो, जो पदार्थ पास हैं, उनमें से भी कुछ त्याग कर फिर मर्यादा करना। यदि ऐसा न हो सके, तो जो पदार्थ पास हैं

उनसे अधिक की मर्यादा न करना। पास तो बहुत कम हैं और मर्यादा बहुत अधिक की करें, यह ठीक नहीं है। इस विषय में, आनन्दादि श्रावक का व्रत स्वीकार करना, आदर्श स्वरूप है। आनंद श्रावक ने उतनी ही सम्पत्ति की मर्यादा की थी, जितनी उसके पास थी। उससे अधिक की मर्यादा नहीं की थी।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से, इहलौकिक और पारलौकिक अनेक लाभ हैं। इच्छा या तृष्णा ऐसी है, कि जिसका कभी अन्त नहीं आता। जैसे आग में घी डालने से आग और प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार पदार्थों के मिलने से इच्छा और बढ़ती ही जाती है, कम नहीं होती। इस प्रकार की बढ़ी हुई इच्छा के कारण, मनुष्य का जीवन भार भूत एवं कष्ट प्रद बन जाता है। ऐसा आदमी न तो शान्ति से खा पी या सो सकता है, न ईश्वर-भजनादि आत्म-कल्याण के कार्य ही कर सकता है। उसको प्रत्येक समय अपनी बढ़ी हुई इच्छा की पूर्त्ति की ही चिन्ता रहती है। कोई भी समय ऐसा नहीं होता, कि जिसमें उनको शान्ति मिले। उसके पास कितनी भी सम्पत्ति हो जावे, उसको संसार के समस्त पदार्थ भी मिल जावें, तब भी अशान्ति बनी ही रहती है। इच्छा परिणाम व्रत स्वीकार कर लेने पर, इस प्रकार की अशान्ति मिट जाती है और गार्हस्थ्य जीवन महान् दुःखमय नहीं रहता। अपितु सुखमय हो जाता है।

परिग्रह, समस्त दुःख और जन्ममरण का कारण है। उन दुःखों से बचने और जन्ममरण से छूटने के लिए ही, अपरिग्रह व्रत या परिग्रह-परिमाण व्रत स्वीकार किया जाता है। अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला जन्म-मरण से प्रायः सर्वथा छूट जाता है। वह न तो फिर जन्मता ही है, न मरताही है, और न उसे किसी प्रकार का कष्ट ही होता है। यदि उसने अपनी इच्छा का सर्वथा निरोध कर लिया है, और पूर्व कर्मक्षय कर दिये तब तो उसी भव में मुक्त हो जाता है, अन्यथा एक या दो भव में मुक्त हो जाता है। जो परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, फिर भी यदि उसने किसी अन्श में परिग्रह का त्याग किया है और इच्छा को कम कर लिया है, तो उतने अन्श में वह भी कष्ट से छूट जाता है, नीच गति में जन्म लेने से बच जाता है, तथा मोक्ष-मार्ग का पथिक हो जाता है। जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, सांसारिक पदार्थों को सर्वथा न त्याग सकने पर भी उनमें लिप्त नहीं रहता, किन्तु जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, वह कभी-कभी तो भाव चारित्र पाकर उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है, और कभी-कभी सात आठ भव के अन्तर से मुक्त होता है। उसको अव्रत की क्रिया नहीं लगती, इस कारण वह नरक तिर्यक गति में नहीं जाता। पास में चाहे कम हो या अधिक हो, मोक्ष जाने न जाने का कारण यह नहीं हो सकता।

पास कम है इसलिए मोक्ष जल्दी होगा, या पास ज्यादा है इसलिए मोक्ष नहीं होगा या देर से होगा, यह बात नहीं है। इसके लिए भगवान ऋषभदेव के समय की एक कथा प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—

भगवान ऋषभदेव, समवशरण में विराजमान थे। द्वादश प्रकार की परिषद्, भगवान का उपदेश श्रवण कर रही थी। भगवान ने अपने उपदेश में यह कहा, कि महारम्भी और महापरिग्रही की अपेक्षा, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही शीघ्र मोक्ष जाता है। भगवान का यह उपदेश एक सुनार ने भी सुना। उसने सोचा, कि मेरे पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति है, और मैं आरम्भ भी बहुत कम करता हूँ। दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती के पास छः खण्ड पृथ्वी का राज्य है, चौदह रत्न हैं, और अनेक प्रकार की सम्पत्ति है; इसलिए वे महापरिग्रही हैं और राजकार्यादि में आरम्भ भी बहुत होता है। इस प्रकार भरत चक्रवर्त्ती की अपेक्षा मैं अल्पारम्भी अल्प परिग्रही हूँ, तथा मेरी अपेक्षा भरत चक्रवर्त्ती महारम्भी महापरिग्रही हैं। इसलिए भरत चक्रवर्त्ती से पहले मैं ही मुक्त होऊँगा।

सुनार ने अपने मन में इस प्रकार सोचा। फिर उसने विचार किया, कि इस विषय में भगवान से ही क्यों न पूछूँ! देखें भगवान क्या कहते हैं। इस प्रकार विचार कर सुनार ने, अवसर

थाकर भगवान से प्रश्न किया, कि—प्रभो, पहले मेरा मोक्ष होगा, अथवा भरत चक्रवर्त्ती का मोक्ष होगा? त्रिकालज्ञ भगवान ने सुनार के प्रश्न के उत्तर में कहा, कि—पहले भरत चक्रवर्ती को मोक्ष होगा। भगवान का उत्तर सुनकर सुनार ने कहा, कि—यह तो आपने पक्षपात की बात कही। आपने उपदेश में तो यह कहा था, कि अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही को पहले मोक्ष होगा, और अब आप ऐसा कह रहे हैं? भरत चक्रवर्त्ती महान् परिग्रही हैं, और इस प्रकार महारम्भी हैं, तथा मैं इस-इस प्रकार अल्पारम्भी अल्प परिग्रही हूँ। फिर भी, भरत आपके पुत्र हैं इसलिए आपने उनका मोक्ष पहले बताया, यह पक्षपात नहीं तो क्या है?

सुनार की बात के उत्तर में भगवान ने कहा, कि—तुम इस विषय में, स्थूल दृष्टि से जो कुछ दिखता है उसी पर विचार कर रहे हो, लेकिन स्थूल दृष्टि से वास्तविकता को नहीं देख सकते। मैंने जो कुछ कहा है, वह ज्ञान में देख कर कहा है। वास्तव में भरत महारम्भी महापरिग्रही नहीं हैं, किन्तु तुम हो।

भगवान का कथन, सुनार की समझ में नहीं आया। उस समय वहाँ भरत चक्रवर्त्ती भी मौजूद थे। भरत ने भगवान से प्रार्थना की, कि—प्रभो, इसको मैं समझा दूँगा। यह कह कर भरत चक्रवर्त्ती उस सुनार को अपने साथ ले गये। उनने तेल से भरा हुआ एक कटोरा सुनार को देकर उससे कहा, कि—इस तेल

से भरे हुए कटोरे को लेकर सारे नगर में घूम आओ, लेकिन याद रखो, अगर इस कटोरे में से तेल की एक भी बूँद नीचे गिरी, तो तुम्हारी गर्दन उड़ा दी जावेगी। यह कह कर और तेल का कटोरा देकर, भरत चक्रवर्ती ने सुनार को बिदा किया। उन्होंने सुनार के साथ एक दो सिपाही भी लगा दिये।

तेल का कटोरा लेकर सुनार, नगर के बाजारों में घूमने लगा। उसके साथ भरत चक्रवर्ती के सिपाही लगे ही हुए थे। नगर के सब बाजारों में घूम कर सुनार, तेल का कटोरा लिये हुए भरत-चक्रवर्ती के पास आया। भरत ने उससे पूछा, कि—तुम नगर के सब बाजारों में घूम आये?

सुनार—हाँ महाराज, घूम आया।

भरत—इस कटोरे में से तेल तो नहीं गिरने दिया था?

सुनार—तेल कैसे गिरने देता? तेल गिरता तो आपके ये सिपाही वहीं गर्दन उड़ा देते, आप तक आने ही क्यों देते?

भरत—अच्छा यह बताओ, कि तुमने नगर के बाजारों में क्या क्या देखा?

सुनार—मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत सब बाजारों में घूम कर आ रहे हो, फिर भी तुमने कुछ नहीं देखा?

सुनार—हाँ महाराज, मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—क्यों ?

सुनार—देखता कैसे ? मेरी दृष्टि तो इस कटोरे पर थी। मुझे भय था, कि कहीं तेल न गिर जावे, नहीं तो साथ का सिपाही मेरी गर्दन उड़ा देगा। इस भय के कारण मेरी दृष्टि कटोरे पर ही रही, बाजार में क्या होता है, या क्या है, इस ओर मैंने ध्यान भी नहीं दिया।

भरत—बस यही बात मेरे लिए भी समझो। यह समस्त ऋद्धि सम्पदा—जिसे तुम मेरी समझ रहे हो—एक बाजार के समान है। मैं इस बाजार में विचरता हूँ, फिर भी मैं इसको अपनी नहीं मानता, न इसकी ओर ध्यान ही देता हूँ। क्यों कि, जिस तरह तुमको सिपाही द्वारा गर्दन उड़ाई जाने का भय था इसलिए तुम्हारा ध्यान कटोरे पर ही था, बाजार की ओर तुमने नहीं देखा, उसी प्रकार मुझे भी परलोक का भय लगा हुआ है, इसलिए मैं भी ऋद्धि-सम्पदा में रचा पचा नहीं रहता हूँ, ऋद्धि-सम्पदा की ओर ध्यान नहीं देता हूँ, किन्तु जिस तरह तुम्हारा ध्यान कटोरे पर था, उसी प्रकार मेरा ध्यान भी मोक्ष की ओर है। इस कारण मैं चक्रवर्त्ती होता हुआ भी, भगवान के कथनानुसार तुमसे पहले मोक्ष जाऊँगा। इसके विरुद्ध तुम्हारे पास ऐसी सम्पत्ति नहीं है, लेकिन तुम्हारी लालसा बढ़ी हुई है। जिसकी लालसा बढ़ी हुई है, वही महारम्भी महापरिग्रही है; फिर चाहे उसके पास कुछ हो

अथवा न हो, या बहुत थोड़ा हो। और जिसके पास बहुत सम्पत्ति है, फिर भी यदि वह उस सम्पत्ति में मूर्छित नहीं रहता है, उसकी लालसा बढ़ी हुई नहीं है, किन्तु सांसारिक पदार्थों में रहता हुआ भी जल में कमल की तरह उनसे अलग रहता है, तो वह अल्पारम्भी अल्प परिग्रही है। इसीलिए भगवान ने तुम्हारे लिए मोक्ष न बता कर, पहले मेरे लिए मोक्ष बताया।

भरत चक्रवर्त्ती के इस कथन से, सुनार समझ गया। उसने जाकर भगवान से क्षमा माँगी, और इस प्रकार वह पवित्र हुआ।

मतलब यह, कि मोक्ष प्राप्ति अप्राप्ति का कारण सांसारिक पदार्थों का पास होना न होना नहीं है, किन्तु ममत्व का होना न होना ही मोक्ष प्राप्त न होने या होने का कारण है। इसलिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो, केवल इच्छापरिमाण व्रत ही लिया गया हो, फिर भी यदि शेष परिग्रह से जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, तो वह उसी भव मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इसके विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो, लेकिन इच्छा-मूर्छा बढ़ी हुई हो, इच्छा-मूर्छा न मिटी हो, तो वह संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करता है और नरक तिर्यक् गति में भी जाता है।

इच्छा के विषय में पहले यह बताया जा चुका है, कि इच्छा अनन्त है, इच्छा का अन्त नहीं है। जिसमें ऐसी इच्छा विद्यमान

है, उसके परिग्रह का भी अन्त नहीं है। ऐसा व्यक्ति, महान् परिग्रही है। उसे महान् परिग्रह की ही क्रिया लगती है। उसके पास परिग्रह सम्बन्धी पूर्ण पाप विद्यमान है। इच्छा परिमाण व्रत द्वारा, ऐसे महान् परिग्रह से निकला जाता है। जब इच्छा की सीमा कर दी गई, उसका अन्त मालूम हो गया, तब महान् परिग्रह भी नहीं रहा। फिर तो जितने अन्श में इच्छा शेष है, उतने ही अंश में परिग्रह भी शेष रहा है और शेष अंश से परे के परिग्रह से निवृत्त हो जाता है। इस कारण फिर परिग्रह की पूर्ण क्रिया नहीं लगती, किन्तु जितने अंश में परिग्रह रहा है, उसी की क्रिया लगती है। इच्छा की सीमा हो जाने पर महान् परिग्रह नहीं रहता, किन्तु सीमित अर्थात् अल्प परिग्रह ही रहता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाला, अप्राप्त वस्तु के लिए चिन्ता नहीं करता, न इस कारण उसे दुःख ही होता है। चाहे उसके जानने में नूतन से नूतन पदार्थ आवें, फिर भी वह उन पदार्थों की इच्छा नहीं करता, उनको प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, न उनके मिलने पर दुःख ही करता है। यदि व्रत में रखी हुई मर्यादा के बाहर का कोई पदार्थ उसे बिना इच्छा या श्रम के भी प्राप्त होता हो, तो उसको भी वह स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वह, किसी वस्तु की इच्छा से दुःखी नहीं रहता, किन्तु इस ओर से सर्वथा दुःखरहित हो जाता है। साथ ही, यह व्रत

स्वीकार करने वाला व्यक्ति त्याग से बचे हुए पदार्थों के प्रति ऐसा ममत्वभाव नहीं रखता, कि जिसके कारण उन पदार्थों के छूटने पर दुःख हो। वह सांसारिक पदार्थों का आधार उसी प्रकार लेता है, जिस प्रकार पत्ती वृत्त का सहारा लेता है। वृत्त का सहारा बन्दर भी लेता है, और पत्ती भी लेता है, लेकिन दोनों के सहारा लेने में अन्तर होता है। वृत्त पर बैठा होने पर भी पत्ती, वृत्त के ही सहारे नहीं रहता, किन्तु अपने पंखों के सहारे रहता है; परन्तु बन्दर के लिए—यदि वह वृत्त पर बैठा हो—वृत्त ही आधार है। इस कारण वृत्त के गिरने पर पत्ती को कष्ट नहीं हो सकता, वह अपने पंखों की सहायता से उड़ जावेगा, लेकिन बन्दर उसी वृत्त के नीचे दब सकता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले में भी, ऐसा ही अन्तर होता है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाला, सांसारिक पदार्थों से ऐसा ममत्व नहीं करता, उनका इस प्रकार सहारा नहीं लेता, जैसा सहारा बन्दर वृत्त का लेता है। सांसारिक पदार्थों के छूटने पर, उसे किंचित भी दुःख नहीं होता। वह सांसारिक पदार्थों का उपयोग उसी तरह करता है, जिस प्रकार पत्ती वृत्त का उपयोग करता है।

इस व्रत को न अपनाने पर, अप्राप्त वस्तु के कारण भी दुःख होता है, और प्राप्त वस्तु के कारण भी। अप्राप्त वस्तु के लिए

वह सदा झुरता रहता है, चिन्तित तथा दुःखी रहता है, और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिए चिन्तित एवं भयभीत रहता है। इस बात का भय बना ही रहता है, कि यह वस्तु मुझ से कोई छीन न ले, या छूट न जावे। परिग्रह परिमाण व्रत स्वीकार करने पर, इस प्रकार की अधिकान्श चिन्ता तथा अधिकान्श दुःख मिट जाता है। वह व्यक्ति, वस्तु की रत्ता की ओर से चिन्तित भी नहीं रहता, तथा वस्तु के जाने से दुःखी भी नहीं होता। वह जानता है, कि वस्तु का यह स्वभाव ही है। जब तक मेरे पुण्य का जोर है, तभी तक वस्तु मेरे पास रह सकती है, उस दशा में इसे कोई नहीं ले जा सकता और पुण्य का जोर हटने पर वस्तु मेरे पास नहीं रह सकती। चाहे मैं लाखों प्रयत्न या दुःख करूँ, समय आने पर वस्तु चली ही जाती है। फिर मैं चिन्ता या दुःख क्यों करूँ!

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को मरण के समय भी दुःख नहीं होता। इच्छा का परिमाण न करनेवाले महा परिग्रही को मरण समय में भी घोर कष्ट होता है। 'हाय! मेरी प्रिय सम्पत्ति आज छूट रही है' इस दुःख के कारण उसके प्राण शान्ति से नहीं निकलते, किन्तु बड़े कष्ट से निकलते हैं। जिसने भारत को बड़ी बुरी तरह लूटा था, वह महमूद गजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सामने मँगवाई, और

उस सम्पत्ति को देख देख कर वह रोने लगा। उसके रोने का वास्तविक कारण क्या था, यह निश्चय पूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु हो सकता है, कि वह सम्पत्ति छूटने के दुःख से रोया हो। महापरिग्रही को ऐसा दुःख होता ही है। उसे, मरते समय आरत रौद्र ध्यान होता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाला, इससे बचा रहता है।

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई रहती है, वह सदैव लोभ-ग्रस्त रहता है। स्वयं के पास जो कुछ है, स्वयं को जो कुछ प्राप्त है, उस पर उसे सन्तोष ही नहीं होता। लोभवश वह पास की वस्तु भी देता है, जिससे उसका दुःख और बढ़ जाता है। जैसे, रावण को अपनी स्त्री से सन्तोष नहीं हुआ। उसने, दूसरे की स्त्री को भी अपनी बनाना चाहा। परिणामतः दूसरे की स्त्री तो उसकी नहीं हुई, लेकिन इस प्रयत्न के कारण वह स्वयं की स्त्री का भी स्वामी नहीं रहा। दुर्योधन ने दूसरे की सम्पत्ति को, जुए के खेल द्वारा अपनी बनाना चाहा था। परिणामतः उसकी स्वयं की सम्पत्ति भी चली गई। इसी प्रकार और भी बहुत से लोग, लोभ में पड़ कर पास की भी चीज़ खो देते हैं। इस विषय में एक कहानी भी है, जो इस प्रकार है—

एक कुत्ता, मुँह में रोटी का टुकड़ा दबाये हुए नदी के पार जा रहा था। नदी के पानी में उसने अपनी परछाईं देखी। कुत्ते

ने समझा, कि दूसरा कुत्ता मुँह मे रोटी लिये जा रहा है। उसने, उस परछाई के कुत्ते से रोटी छीनने का विचार किया और इसके लिए स्वयं का मुंह फाड़ कर वह परछाई के कुत्ते की ओर लपका लेकिन जैसे ही उसने रोटी छीनने के लिए मुंह फाड़ा, वैसे ही उसके मुंह की रोटी पानी में गिर कर बह गई। इस प्रकार लोभवश उसने, पास की भी रोटी खो दी।

कुत्ता तो पशु है, इसलिए उससे ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु बहुत से लोभी मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। वे भी, लोभवश समीप का धन जुए सट्टे आदि में लगा देते हैं और इस विचार से प्रसन्न होते हैं, कि दूसरे का धन छिन कर हमारे पास आ जावेगा। लेकिन इस प्रयत्न में वे, अपना धन भी खो देते हैं, और फिर दुःखी होते हैं। जिसने अपनी इच्छा को सीमित कर लिया है, उसको इस प्रकार का लोभ नहीं होता, इस कारण उसे पास का धन खोकर दुःखी नहीं होना पड़ता।

श्रावक के लिए परिग्रह परिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। वह जब तक अपनी इच्छा को सीमित नही कर लेता, तब तक निग्रन्थ प्रवचन को अपने में नहीं रुचा सकता। जो महारम्भी और महापरिग्रही है, उसमें निग्रन्थ धर्म का लेश भी नहीं हो हो सकता। निग्रन्थ धर्म का पात्र बनने के लिए, इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

सन्मुख जाकर शुकदेवजी ने देखा, कि राजा अच्छे सिंहासन पर बैठा है और उस पर चँवर छत्र हो रहा है। शुकदेवजी सोचने लगे, कि पिता ने मुझे इसके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है! यह माया में फँसा हुआ, मुझको क्या ज्ञान देगा! शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे, इतने ही में राजा के पास खबर आई, कि नगर में आग लग गई है, और नगर जल रहा है। फिर खबर आई, कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई, कि आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक, इन सब खबरों को सुनकर किंचित् भी नहीं घबराये, किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे; लेकिन शुकदेवजी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा, कि—नगर या महल में आग लगने से आपको चिन्ता क्यों हो गई? शुकदेवजी ने उत्तर दिया, कि—मेरा दण्ड और कमण्डल द्वार पर ही रखा है; मुझे उन्हीं की चिन्ता है, कि कहीं वे न जल जावें। राजा ने उत्तर दिया, कि मुझको नगर या महल के जलने की भी चिन्ता नहीं है, न दुःख ही है, और आपको दण्ड कमण्डल की ही चिन्ता हो गई! इस अन्तर का क्या कारण है? यही, कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल में रहता हुआ भी इनसे निर्ममत्व रहता हूँ, इनको अपना नहीं मानता, और आप दण्ड कमण्डल को अपना मानते हैं। आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिए भेजा है, कि जिस प्रकार मैं निर्ममत्व

रहता हूँ, उसी प्रकार निर्ममत्व रहो। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना मत समझो, न किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध मानो, किन्तु यह मानो, कि आत्मा अजर अमर तथा अविनाशी है और संसार के समस्त पदार्थ नाशवान हैं। इसलिए आत्मा का, सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

शास्त्र में, नमीराज विषयक वर्णन भी ऐसा ही है। नमीराज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया था और वे विरक्त हो गये थे, उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बना कर उनसे कहा था, कि वह देखो तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है! तब नमीराज ने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचणं।
महिलाए उज्झमाणीए न मे डज्झई किंचणं॥

अर्थात्—मैं सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक ही जीवित हूँ; महल और मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मिथिला नगरी के जलने से, मेरा कुछ भी नहीं जलता है।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्ममत्व रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दुःख करना।

निर्ममत्व रहने के साथ ही, कृपण भी न रहना। चाहे कृपण हो या उदार, सांसारिक पदार्थ निश्चय ही छूटते हैं; लेकिन उस

कि—यह मक्खी क्या कह रही है? कालिदास ने कहा—महाराज, यह मक्खी कहती है, कि—

> देयं भोज्य धनं धनं सुकृतिभिर्नो संचितं सर्वदा
> श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिस्थिता।
> आश्चर्यं मधु दान भोग रहितं नष्टं चिरात्संचितं
> निर्वेदादिति पाणिपाद युगलं घर्षन्त्यहो मक्षिकाः ॥

अर्थात्—हे राजा भोज, तेरे पास जो धन है, वह दे, दान कर, सुकृत में लगा। आज कर्ण बलि और विक्रम राजा नहीं हैं, लेकिन दान के कारण आज भी उनकी कीर्ति बनी हुई है। यदि वे दान नहीं करते, किन्तु धन को संचित ही रखते, तो उनकी कीर्त्ति न होती। इसलिए तू भी दान कर। यदि तू देगा नहीं, किन्तु संचित ही रखेगा, तो जो बात हम पर बीती है, वही तेरे पर भी बीतेगी। हमने भी मधु (शहद) संग्रह किया था। उसे न तो स्वयं हमने ही खाया था, न उसमें से कभी किसी को दिया ही था। केवल संग्रह ही रखा था। परिणाम यह हुआ, कि लूटने वाले आये और हमारा सब शहद लूट गये। इस प्रकार न देने पर जैसे हमारा शहद नष्ट हो गया, उसी तरह तेरा धन भी नष्ट हो जावेगा और फिर जैसे हम हाथ मल कर तथा सिर से लगा कर पश्चाताप करती हैं, उसी तरह तुझे भी पश्चाताप करना होगा।

यह कह कर कालिदास भोज से कहने लगा, कि—महाराज, यह मक्खी यही बात कह रही है। आप तो दानी हैं, इसलिए आप से यह बात कहने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन आप से कही गई बात के द्वारा दूसरों का हित होगा, यह सोच कर ही मक्खी ने आप से ऐसा कहा है।

कालिदास का कथन सुन कर, भोज उसकी बुद्धिमानी पर प्रसन्न हुआ।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रखी गई वस्तुओं के प्रति भी कृपणता का भाव न रखना, किन्तु उदारता का भाव रखना। कृपणता से वस्तु के प्रति अधिक ममत्व होगा, और उदारता से ममत्व कम होगा।

श्रावक अपने व्रत की मर्यादा में जो द्रव्य शेष रखता है, उसे केवल अपने ही सुख के लिए नहीं समझता। उसे अपना ही नहीं मान बैठता। यह नहीं करता, कि दूसरे आदमी चाहे उस वस्तु के लिए कष्ट पाते रहें और श्रावक उस वस्तु को दबाये बैठा रहे। श्रावक अपनी मर्यादा में जो धन धान्यादि रखता है, उससे स्वयं भी सांसारिक कार्य चलाता है और दूसरों को भी सहायता करता है। उसके पास जो धन-धान्य होता है, उसे वह आवश्यकता के समय जनता के हित में व्यय कर देता है। दुष्कालादि के समय, उसके द्वारा लोगों की रक्षा करता है। लोगों को सहायता करता है।

जो धन मर्यादा में रखा है, उसे पकड़ कर बैठ जाना व्यावहारिक दृष्टि से भी अनुचित है। अर्थात् उसे जमीन में गाड़ देना, या तिजोरी में बन्द करके रख छोड़ना, ठीक नहीं। जब सम्पत्ति एक या कई जगह केन्द्रित हो कर रुक जाती है, व्यवहार में नहीं आती, तब साधारण जनता को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए 'यह सम्पत्ति तो हमारी मर्यादा में ही है' ऐसा समझ कर, सम्पत्ति को व्यवहार से वंचित रखना, जनता को कष्ट में डालना है। भारत में गेंद के खेल की जो प्रथा है, उससे एक शिक्षा भी मिलती है। गेंद होता तो है किसी एक व्यक्ति का ही, परन्तु उसे खेलते अनेक आदमी हैं। अनेक आदमी मिल कर, परस्पर उसका आदान प्रदान करते हैं। कोई एक आदमी गेंद को लेकर नहीं बैठ जाता, और यदि कोई ऐसा करे, तो उसके साथी गण उसे दंड देने तथा उससे गेंद छीनने का प्रयत्न करते हैं। गेंद के इस खेल से, धन धान्यादि सम्पत्ति के विषय में भी यह शिक्षा मिलती है, कि इन सब को अपना ही न मान बैठो, किन्तु जैसे गेंद से अनेकों को खेलने का लाभ दिया जाता है, उसी तरह सम्पत्ति का लाभ भी सब को दो। फिर चाहे वह सम्पत्ति तुम्हारे ही अधिकार की क्यों न हो, लेकिन उसे पकड़ कर मत बैठ जाओ। यदि तुम सम्पत्ति को अपनी ही मान कर दबा बैठोगे, तो लोग तुम से वह सम्पत्ति छीनने का प्रयत्न

करेंगे, तथा तुम्हारे पास न रहने देंगे। और यदि गेंद की तरह सम्पत्ति का भी आदान प्रदान करते रहोगे, तो जिस प्रकार फेंका हुआ गेंद लौट कर फेंकनेवाले के ही पास आता है, उसी तरह दूसरे को देते रहने पर—यानी त्याग करने पर—सम्पत्ति भी लौट-लौट कर त्यागनेवाले के ही पास आवेगी। सम्पत्ति के लिए झगड़ा भी तभी होता है, जब कोई उसे अपनी मान कर पकड़ बैठता है। जहाँ किसी वस्तु को अपनी नहीं माना जाता, वहाँ किसी प्रकार का झगड़ा भी नहीं होता।

जिस तरह मर्यादा में रखी हुई प्राप्त वस्तु के प्रति कृपणता अथवा ममत्व न रखना, उसी तरह मर्यादा में रखी हुई अप्राप्त वस्तु की कामना भी न करना; किन्तु निष्काम रहना। कामना से वस्तु प्राप्त भी नहीं होती, और यदि प्राप्त हुई भी, तो उससे आध्यात्मिक तथा मानसिक हानि होती है। वस्तु की कमी वहीं है, जहाँ कामना है। जहाँ कामना नहीं है, वहाँ वस्तु की भी कमी नहीं है। कामना न होने पर वस्तु छाया की तरह पीछे दौड़ती है, और कामना होने पर दूर भागती है। जैसे कोई आदमी छाया को पकड़ने के लिए छाया की ओर दौड़े, तो छाया आगे को भागेगी; लेकिन यदि वह छाया को पकड़ने की इच्छा न करे, छाया की ओर पीठ दे दे, तो वह छाया उस आदमी के पीछे दौड़ेगी। इसी प्रकार वस्तु की चाह करके उसके प्रति उपेक्षा

बुद्धि रखे, तो वस्तु दौड़ कर पास आवेगी, और यदि वस्तु की चाह करके उसके पीछे दौड़े, तो वस्तु दूर भागेगी। इसलिए मर्यादा में होने पर भी अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, किन्तु निष्काम और मर्यादा पर स्थिर रहना। मर्यादा पर स्थिर रहने से, समस्त सम्पत्ति स्वयं ही दौड़ कर आवेगी। तुलसी-कृत रामायण में कहा है—

जिमि सरिता सागर महँ जाहीं, यद्यपि तिन्हैं कामना नाहीं।
तिमि धनसम्पति बिनहिं बुलाये, धर्मशील पँह जाहिं सुभाये॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र को जल की कामना न होने पर भी सब नदियाँ समुद्र में ही जाती हैं, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति भी धर्मशील व्यक्ति के पास बिना बुलाये ही स्वभावतः जाती है।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रही हुई परन्तु अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, न उसके लिए धर्म की सीमा का उल्लंघन ही करना।

यह व्रत स्वीकार करनेवाला उन कार्यों को कभी नहीं करता, जिनका शास्त्र में निषेध किया गया है। शास्त्र में, श्रावक के लिए वर्ज्य पन्द्रह कर्मादान में जो कार्य बताये गये हैं, इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करनेवाला उन कामों को नहीं करता। जिसने इच्छा की सीमा नहीं की है, वह कृत्याकृत्य का विचार नहीं रखता। उसका उद्देश्य तो केवल यह रहता है, कि मेरी इच्छानुसार पदार्थ

मिले; फिर इसके लिए कुछ भी क्यों न करना पड़े। लेकिन जिसने इस व्रत को स्वीकार किया है, वह कृत्याकृत्य का ध्यान रखता है और अकृत्य कार्य कदापि नहीं करता।

मतलब यह, कि यह व्रत स्वीकार करनेवाला अनेक अंश में सुखी तथा पाप से बचा हुआ रहता है और उसके द्वारा धर्म-कार्य एवं शुभ-कार्य भी होते हैं। अशुभ कार्यों से प्रायः वह अलग हो जाता है।

अपरिग्रह व्रत या इच्छापरिमाण व्रत का पालन वही कर सकता है, जो समस्त पदार्थों को तात्विक दृष्टि से देखता है, जिसने सादगी स्वीकार की है और लालसा को मिटा दिया है या कम कर दिया है। इच्छा परिमाण व्रत का पालन करने के लिए सादगी का होना आवश्यक है। जिसमें सादगी होगी, वही इच्छा-परिमाण-व्रत का पालन कर सकता है। सादगी न होने पर वस्तु की चाह होगी ही, और इस कारण कभी न कभी व्रत भी भंग हो जावेगा। सादगी, अनशनादि तप से भी कठिन है। बहुत से लोग अनशन तप तो कर डालते हैं, लेकिन उनके लिए सादगी स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है। परन्तु जब तक सादगी नहीं है, तब तक न तो अपरिग्रह व्रत का ही पालन हो सकता है, न परिग्रह-परिमाण व्रत का ही। इस व्रत का पालन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताओं को बिलकुल घटा दिया जावे।

सादगी की ही तरह सरलता का होना भी आवश्यक है। जिसमें सरलता नहीं है, वह भी व्रत का पालन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति, अपनी बुद्धि का उपयोग व्रत में गली निकालने में ही करता है। वह आदमी, व्रत में भी कपट चलाता है।

व्रत स्वीकार करके फिर उसमें कपट चलाने या गली निकालने से, व्रत का महत्व नष्ट हो जाता है। बहुत से लोग व्रत लेते समय यह सोचते हैं, कि हम जितनी मर्यादा कर रहे हैं, हमको उतना ही मिलना कठिन है, तो अधिक तो मिल ही कैसे सकता है! इस तरह सोच करके पहले ही-जो पास है उससे—बहुत अधिक की मर्यादा करते हैं, परन्तु योगायोग से जब मर्यादा इतना धन हो जाता है और उससे भी बढ़ने लगता है, तब व्रत में कपट चलाने लगते हैं। ऐसे लोग, उस समय अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति को सन्तान या स्त्री के नाम पर कर देते हैं, उनके विवाहादि खर्च खाते में अमानत कर लेते हैं और फिर भी यह समझते हैं, कि हमारे व्रत में कोई दूषण नहीं लगा है। लेकिन वस्तुतः ऐसा करना, व्रत में कपट चलाना और व्रत को भंग करना है। क्योंकि व्रत लेते समय इस प्रकार की मर्यादा नहीं की थी। सच्चा व्रतधारी, अपने व्रत से बाहर की कोई भी वस्तु, अपने पास न रखेगा, फिर चाहे वह कैसी भी हो और किसी भी तरह से क्यों न मिलती हो। अरणक श्रावक को एक देव ने

मिट्टी के गोले में बन्द करके दो जोड़ कुण्डल दिये थे। यदि अरणक चाहता तो कह सकता था, कि ये कुण्डल तो देवप्रदत्त हैं, इसलिए व्रत मर्यादा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, और ऐसा कह कर वह कुण्डलों को रख सकता था; लेकिन अरणक व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य और व्रत स्वीकार करते समय रखे गये अपने अधिकार की मर्यादा को अच्छी तरह जानता था, तथा उस पर दृढ़ था। उसका उल्लंघन नहीं करना चाहता था। इसलिए, उसने उन कुण्डलों को अपने पास नहीं रखा, किन्तु दूसरों को दे दिया। क्योंकि, उसने व्रत में देवप्रदत्त वस्तु लेने की मर्यादा नहीं रखी थी। इसी प्रकार जब स्त्री और बच्चों की सम्पत्ति अलग करने की मर्यादा नहीं रखी है, तब सम्पत्ति के बढ़ने पर बढ़ी हुई सम्पत्ति उनके नाम करके अपना व्रत सुरक्षित समझना, अथवा बढ़ी हुई सम्पत्ति को न त्यागने के लिए और कोई उपाय निकालना, यह व्रत में कपट चलाना तथा धर्म को भी ठगना है। आनन्द श्रावक ने भगवान के पास व्रत स्वीकार करते हुए यह मर्यादा की थी, कि मैं बारह क्रोड़ सोनैया चालीस हजार गायें और पाँच सौ हल की भूमि से अधिक न रखूंगा। यह मर्यादा करके वह अकर्मण्य बन कर नहीं बैठा था, किन्तु चौदह वर्ष तक—जब तक कि उसने ग्यारह प्रतिमा स्वीकार नहीं की—बराबर व्यापार कृषि आदि में उद्योग करता रहा था। उसके

चार क्रोड़ सोनैया व्यापार में लगे हुए थे, पाँच सौ हल की खेती होती थी और चालीस हजार गायें थीं। इन तीनों द्वारा एक ही वर्ष में सम्पत्ति की अत्यधिक वृद्धि हो सकती थी, और हुई भी होगी, फिर भी यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता, कि उसने वह बढ़ी हुई सम्पत्ति स्त्री पुत्र की बता कर अपने पास ही रखली, अथवा स्त्री पुत्र को दे दी, अथवा अपनी सम्पत्ति का कोई भाग देकर स्त्री पुत्र को अलग कर दिया। यदि वह ऐसा करता, तो अवश्य ही उसका व्रत भंग हो जाता। क्योंकि उसने अपने व्रत में इस प्रकार की मर्यादा नहीं रखी थी।

अब यह प्रश्न होता है, कि फिर वह अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या करता था? चालीस हजार गायों के बच्चे भी बहुत होते होंगे, पाँच सौ हल से अन्नादि भो बहुत होता होगा, और चार क्रोड़ सौनैया के व्यापार से भी बहुत लाभ होता होगा। आनन्द श्रावक व्यय से बचे हुए उस धन का क्या उपयोग करता था, जिससे उसका व्रत भंग नहीं हुआ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि आनन्द अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग करता था इसका शास्त्र में कोई स्पष्ट वर्णन तो नहीं है, लेकिन शास्त्र में यह वर्णन तो है ही, कि आनन्द श्रावक श्रमण माहण को प्रतिलाभित करता हुआ विचरता था। श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ ब्राह्मण या श्रावक है। आनन्द,

श्रमण और माहण को उनके योग्य दान देता था। इसके सिवा शास्त्र में तुंगिया नगरी आदि स्थान के श्रावकों का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उन श्रावकों के द्वार दान देने के लिए सदा ही खुले रहते थे। उनके यहाँ से कोई निराश नहीं जाता था। इस वर्णन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है, कि आनन्द श्रावक दानी था, इस कारण उसकी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नहीं होने पाती थी। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है, कि आनन्द श्रावक जो कृषि वाणिज्य आदि करता था, उसके द्वारा या तो वह पहले ही कम लाभ लेता था, अथवा लाभ का अधिकान्श अपने कार्यकर्त्ताओं को दे देता था। आज यदि कोई आदमी ऐसी दुकान खोले, जिसमें केवल वस्तु की लागत और दुकान आदि का खर्च लेकर ही वस्तु का क्रय-विक्रय किया जाता हो, मुनाफा न लिया जाता हो, अथवा बहुत कम मुनाफा लिया जाता हो, तो जनता ऐसे दूकानदार को बहुत आदर की दृष्टि से देखे, उसे प्रामाणिक माने और उसकी तथा उसके धर्म की प्रशन्सा भी करे। हो सकता है, कि आनन्द भी ऐसा ही वाणिज्य करता हो। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है, कि आनन्द के यहाँ कृषि गोपालन और वाणिज्य होता था, फिर भी उसने अपनी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नहीं होने दी थी।

तात्पर्य यह, कि व्रत लेने के पश्चात् व्रत में कपट चलाना

और किसी प्रकार का मार्ग निकालना अनुचित है। जिस भावुकता और सरलता से व्रत लिया है, वह भावुकता और सरलता अन्त तक रखनी चाहिए। जो इस रीति से व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत निर्दोष प्रशस्त एवं प्रशन्सनीय है।

सांसारिक सम्पत्ति, पूर्व-पुण्य के प्रताप से ही प्राप्त होती है। पूर्व-पुण्य के बिना संसार की कोई सम्पत्ति नहीं मिलती। छोटी से लेकर इन्द्र-पद तक की सम्पदा, पूर्व-पुण्य के प्रताप से परीक्षा के लिए ही प्राप्त होती है। पुण्य का फल है पौद्गलिक सम्पत्ति का मिलना, और प्राप्त सम्पत्ति के त्याग का फल है मोक्ष। पुण्य के फल स्वरूप जो सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह इस बात की परीक्षा के लिए है, कि इसके हृदय में मोक्ष की चाह है अथवा नहीं। जिसमें मोक्ष की चाह होगी, वह उस पुण्य द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को भी त्याग देगा। अन्यथा कई लोग ऐसे भी होते हैं, कि जो पुण्य द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को पाप का साधन बना लेते हैं। यद्यपि प्राप्त सम्पत्ति को सब लोग नहीं त्याग सकते, कुछ ही लोग त्यागते हैं, अधिकान्श आदमी तो यही चाहते हैं, कि यह सम्पत्ति सदा ही बनी रहे। परन्तु चाहे जैसी सम्पत्ति हो, एक दिन छूटती अवश्य है। पुण्य का फल समाप्त होते ही, प्राप्त सम्पत्ति का भी अन्त हो जाता है। उस समय अनेक प्रयत्न करने और रोकने पर भी, वह सम्पत्ति नहीं रुकती। इसके लिए एक कहानी भी है, जो इस प्रकार है—

एक सेठ बहुत धनवान था। एक रात को उसने स्वप्न में देखा, कि मेरी सम्पदा मुझ से कह रही है, कि तुम्हारा पुण्य समाप्त हो चुका है, इसलिए अब मैं तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगी, किन्तु चली जाऊँगी। उस सेठ ने स्वप्न में ही अपनी सम्पदा से पूछा, कि तू कहाँ जावेगी? उत्तर मिला, कि—मैं अमुक नगर के अमुक सेठ के यहाँ जाऊँगी।

स्वप्न देख कर सेठ जाग उठा। वह सोचने लगा, कि—ऐसा क्या उपाय किया जावे, जिससे मेरी सम्पत्ति न जावे! अन्त में उसने इस बात का उपाय सोच कर, प्रायः अपनी समस्त सम्पत्ति को रत्नों में परिवर्तित कर लिया और तीन लकड़ियाँ पोली करवा कर, उन में रत्न भरवा दिये तथा ऊपर से डाट लगवा दी। यह कर के उसने वे लकड़ियाँ, अपनी हवेली के सब से ऊपरी भाग में छप्पर के नीचे लगवा दीं। सेठ उसी छप्पर के नीचे रहता, और वहीं सोता। यद्यपि उसने यह प्रयत्न सम्पत्ति न जाने देने के लिए ही किया था, लेकिन जिस पुण्य के कारण सम्पत्ति प्राप्त होती है, उस पुण्य के क्षय होने पर, सम्पत्ति को कोई किसी भी तरह कैसे रोक सकता था! उस सेठ ने सम्पत्ति को न जाने देना चाहा, फिर भी पुण्य क्षय होने पर सम्पत्ति नहीं रुकी, किन्तु चली ही गई। वर्षाकाल में, एक दिन हवेली के समीप की नदी पूर थी। उसी समय जोर की हवा चली, जिससे, वह छप्पर—जिसमें रत्नों

से भरी हुई तीनों लकड़ियाँ लगी थीं—उड़ कर नदी में गिर गया। बेचारा सेठ रोता ही रह गया।

कुछ दिनों बाद सेठ ने सोचा, कि मेरे यहाँ की सम्पत्ति ने कहा था, कि मैं अमुक सेठ के यहाँ जाऊँगी। उसने मेरे यहाँ से चली जाने की जो बात कही थी, वह तो सत्य हुई, परन्तु उस सेठ के यहाँ जाने की उसकी बात सत्य थी या झूठ, यह तो देखूं! इस प्रकार विचार कर सेठ, उस दूसरे नगर के सेठ के यहाँ गया। उसने, उस सेठ को अपना परिचय सुनाया। उस धनवान सेठ ने, अपने यहाँ आये हुए धनहीन सेठ का स्वागत सत्कार किया। फिर उसे, अपने साथ भोजन करने के लिए ले गया। धनहीन सेठ, धनवान सेठ के साथ रसोईघर के सामने बने हुए एक छप्पर के नीचे भोजन करने बैठा। धनहीन सेठ, भोजन भी करता जाता था और इधर उधर देखता भी जाता था। सहसा उसकी दृष्टि ऊपर की ओर चली गई। उसने देखा, कि मेरे यहाँ की वे तीनों लकड़ियाँ छप्पर में लगी हुई हैं, जिनके भीतर रत्न भरे हैं। यह देख कर, उसकी आँखों से आँसू निकल पड़े। वह भोजन करता जाता था और छप्पर की ओर देखकर आँसू गिराता जाता था। अपने यहाँ आये हुए सेठ को इस प्रकार आँसू डालते देख कर, धनवान सेठ ने उससे कारण पूछा। धनहीन सेठ ने पहले तो टालाटूली की, परन्तु अधिक अनुरोध होने पर उसने कहा, कि

छप्पर में लगी हुई ये तीनों लकड़ियाँ मेरे यहाँ की हैं, और इनके भीतर बहुत से रत्न भरे हुए हैं। यह कह कर उसने, स्वप्न आने, लक्ष्मी को रोकने का प्रयत्न करने, तथा लकड़ियों का नदी में गिरने आदि वृत्तान्त आद्योपान्त कह सुनाया। वह वृत्तान्त सुन कर, धनवान सेठ को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उसने, उन लकड़ियों को छप्पर में से निकलवा कर देखा, तो उसे मालूम हुआ, कि ये भीतर से पोली हैं और इनके मुँह पर डाट लगे हुए हैं। धनवान सेठ को, धनहीन सेठ की बात पर विश्वास हो गया। उसने धनहीन सेठ से कहा, कि—ये लकड़ियाँ आपकी हैं, तो आप इनको ले जाइये। मेरे यहाँ तो, ये तीनों लकड़ियाँ बारह-बारह आने में आई हैं। वर्षा ऋतु में जब नदी पूर थी, मछुए लोग नदी में बह कर आई हुई लकड़ियाँ निकालते थे। इन तीनों लकड़ियों को भी, उन्हीं लोगों ने निकाला था। पूर देखने के लिए, अन्य लोगों की तरह मैं भी नदी पर गया था। मैंने, ये लकड़ियाँ ठीक देख कर बारह-बारह आने में खरीद लीं, और घर लाकर इस छप्पर के नीचे लगवा दीं। मेरे को यह मालूम भी नहीं है, कि ये लकड़ियाँ आपकी हैं और इनके भीतर रत्न भरे हुए हैं। मैं, आपके कथन पर विश्वास करता हूँ। आप अपनी ये लकड़ियाँ और इनमें भरी हुई सम्पत्ति, अपने घर ले जाइये।

धनवान सेठ की बात के उत्तर में धनहीन सेठ कहने लगा,

कि—अब मैं इन लकड़ियों को नहीं ले जा सकता। यह सम्पत्ति आपकी है, मेरी नहीं है। मेरी होती, तो मेरे यहाँ से जाती ही क्यों? और मेरा पुण्य क्षय हो गया है, इसलिए अब मेरे यहाँ रह भी कैसे सकती है? इसे तो आप अपने ही यहाँ रखिये। मैं तो, केवल इसकी सचाई देखने तथा यह जानने आया, कि यह स्वयं के कथनानुसार आपही के यहाँ आई है, अथवा किसी दूसरे के यहाँ गई है। धनवान सेठ से यह कह कर, धनहीन सेठ अपने घर लौट गया।

तात्पर्य यह, कि सम्पत्ति तभी तक रहती है, जब तक पुण्य है। पुण्य की समाप्ति के साथ ही, सम्पति भी चली जाती है; अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं रुकती। आज भी ऐसी अनेक घटनाएँ सुनने में आती हैं, कि किसी के घर में गाड़ा गया धन किसी दूसरे के घर में निकला। इसी प्रकार गड़ी हुई सम्पति का कोयला हो जाना आदि बातें भी, सुनने में आती ही हैं। इस प्रकार पुण्य के क्षय होने पर सम्पति नहीं रुकती, चाहे उसको रोकने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जावे। सम्पति का नाम ही, चंचला है। वह, एक जगह तो ठहरती ही नहीं है। ऐसी दशा में, सम्पति के द्वारा पाप क्यों कमाया जावे? उसे त्याग कर, अक्षय लाभ क्यों न लिया जावे? यदि प्राप्त सम्पति को त्याग कर मोक्ष के पथिक बने तब तो जिस परीक्षा के

लिए सम्पति प्राप्त हुई है, उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो, अन्यथा अनुत्तीर्ण हो। और अनुत्तीर्ण होने पर, फिर परीक्षा की प्रतीक्षा करनी होगी। यदि सांसारिक सम्पदा को सर्वथा त्यागा जा सके तब तो श्रेष्ठ ही है, नहीं तो मर्यादा करके, मर्यादा में रखी हुई सम्पति को दुष्कृत्य में तो मत लगाओ। उसका उपयोग, पापोपार्जन में तो न करो। उसके द्वारा दान का लाभ लो, कृपण तो मत बनो। यदि कृपण बनोगे, तो मरते समय वही सम्पति तुम्हारी छाती पर भार रूप, तथा तुम्हें डुबानेवाली हो जावेगी। इसीलिए एक कवि ने कहा है—

पानी होवे नाव में, घर में होवे दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

सांसारिक पदार्थों को पाकर, गर्व भी मत करो। सम्पत्ति मिलने से, फूलो भी मत। चाहे कितनी ही सम्पत्ति क्यों न मिले, स्वाभाविकता को कदापि मत छोड़ो। बहुत से लोग, थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर ही अभिमान करने लगते हैं। वे सोचते हैं और कहने भी लगते हैं, कि मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ, और मुझको अमुक लोग आदर देते हैं, आदि। कभी-कभी तो वे अपनी सम्पत्ति–धन अधिकार सम्मान आदि का उपयोग दूसरे का अहित करने में ही करते हैं। इस प्रकार वे स्वाभाविकता को छोड़ कर, एकदम कृत्रिमता में पड़ जाते हैं। परिणाम यह होता है, कि-

जिस प्रकार जल पाकर फूल जाने से और स्वाभाविकता छोड़ देने से चना दला जाता है, उसी प्रकार सम्पत्ति रूपी जल पाकर फूले हुए मनुष्य रूपी चने भी दले जाते हैं; यानी दुःखी किये जाते हैं, गिराये जाते हैं। इसलिए सम्पत्ति पाकर अभिमान कभी न करो, किन्तु उसी प्रकार नम्र बन जाओ, जिस प्रकार जल से भरे हुए बादल, फल से लदे हुए वृक्ष और विद्वान् सज्जन नम्र होते हैं।

सम्पत्ति के लिए, जीवन मत हारो। जीवन को, सम्पत्ति के लिए मत समझो। सम्पत्ति पर, जीवन न्योछावर मत करो। सम्पत्ति के लिए धर्म को धता मत बताओ, किन्तु यह विचार रखो, कि हम धन को बड़ा न मानेंगे, धर्म को ही बड़ा मानेंगे और दोनों में से किसी एक के जाने का समय आने पर, धन चाहे जावे, लेकिन धर्म को कदापि न जाने देंगे। धर्मरहित सम्पत्ति, नरक का कारण है। ऐसी सम्पत्ति, दुर्गति में ही ले जाती है। इसलिए धर्मरहित धन को अपने यहाँ कदापि न रहने दो।

जीव को संसार में फंसाने के लिए, दारेषणा, पुत्रेषणा और धनेषणा जाल रूप हैं। जो इन जाल से बचा रहता है, उसी का कल्याण होता है और वही कल्याण कर सकता है।

—:ॐ:—

६
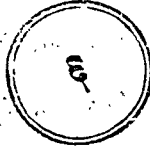
अतिचार

भगवान ने, इच्छा-परिमाण-व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं। वे पाँचों अतिचार, जानने योग्य हैं, आचरण योग्य नहीं हैं। व्रत की मर्यादा चार प्रकार से टूटती है, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार। अतिक्रम व्यतिक्रम तथा अतिचार में, व्रत आन्शिक भंग होता है, और अनाचार में व्रत टूट जाता है। अतिचार तक—जब तक कि व्रत आन्शिक भंग हुआ है, पूर्णतः भंग नहीं हुआ है—व्रत में दूषण हो लगता है, व्रत टूटता नहीं है, लेकिन अनाचार होने पर व्रत टूट जाता है। अतिचार, व्रत का अन्तिम और बड़ा दूषण है, इसलिए इसको जानकर इससे बचना चाहिए। ऐसा करने पर ही, व्रत दूषण-रहित रह सकता है।

इच्छा परिमाण व्रत के पाँच अतिचार ये हैं—क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धनधान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम और कुप्य प्रमाणातिक्रम। खेतादि भूमि और गृहादि के विषय में की गई मर्यादा का आन्शिक उल्लंघन, क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है। यदि मर्यादा को पूर्णतः या विचारपूर्वक तोड़ दिया जावे, तब तो वह अनाचार ही है, फिर तो वृत बिलकुल ही टूट जाता है, लेकिन वृत की अपेक्षा रखते हुए भी भूल या असावधानी से ऐसा कार्य हो जावे जो वृत की मर्यादा में नहीं है, और जिसके करने से वृत कुछ अन्श में भंग हो जाता है, तो यह अतिचार है।

क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ, खेतादि खुली भूमि और गृहादि आच्छादित भूमि के विषय में की गई मर्यादा का पूर्णतः नहीं, किन्तु आन्शिक उल्लंघन करना है। जैसे किसी व्यक्ति ने, चार से अधिक खेत न रखने की मर्यादा की। मर्यादा-काल में उसे और खेत मिले। वृत न टूटे इस विचार से उसने, उन फिर मिले हुए खेतों को पहले के चार खेतों में ही मिला लिया। बीच की मेड़ (पाल) तोड़ दी और फिर मिले हुए खेतों को पहले के खेतों में, मिला कर संख्या नहीं बढ़ने दी, तो यह अतिचार है। क्योंकि, मर्यादा करने के समय उसने और खेतों को मिला कर प्रस्तुत खेतों को बढ़ाने का आगार नहीं

रखा था। इसी प्रकार गृह के विषय में भी विचार रखना। मर्यादा में जिस घर को रखा है, उस घर को लम्बाई चौड़ाई अथवा मूल्य में बढ़ाना, यह भी अतिचार है।

हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ, चाँदी सोना या चाँदी सोने की चीज़ों के विषय में की गई मर्यादा का आन्शिक उल्लंघन करना है। व्रत की उपेक्षा तो नहीं करता है, व्रत की तो रक्षा ही करना चाहता है, फिर भी असावधानी से या समझ की कमी के कारण ऐसे कार्य करता है, जिससे व्रत का आन्शिक उल्लंघन होता है और व्रत में दूषण लगता है, तो यह हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे, मर्यादा करने के पश्चात् सोना चांदी या सोने चाँदी की कोई वस्तु मिली। उस समय यह सोचे, कि मुझे इसका रखना नहीं कलपता इसलिए दूसरे के पास रख दूँ, और ऐसा सोच कर मर्यादा से बाहर की वस्तु दूसरे के पास रख दे, तो यह हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

तीसरा अतिचार, धनधान्यादि प्रमाणातिक्रम है। धन और धान्य के अन्तर्गत बताई गई वस्तुओं के विषय में की गई मर्यादा का आन्शिक उल्लंघन, धनधान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे, किसी ने अनाज घी गुड़ या रुपये पैसे के विषय में कोई मर्यादा की। मर्यादाकाल में, उसे मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मिली। उस समय यह सोचे, कि यदि मैं इस वस्तु को अभी अपने अधि-

कार में रखूंगा तो मेरा व्रत भंग हो जावेगा; इसलिए मर्यादाका
के वास्ते यह वस्तु दूसरे के पास रख दूं। अथवा मेरे पास ज
वस्तुएँ हैं, उनके समाप्त या कम होने तक यह वस्तु दूसरे के पा
रख दूँ। फिर जब मर्यादाकाल समाप्त हो जावेगा, या मर्यादा
रखी हुई वस्तु में न्यूनता आवेगी, तब इस वस्तु को लेकर अप
अधिकार में कर लूंगा। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखते हुए भ
ऐसे कार्य करना, जिनसे व्रत में दूषण लगता है, धनधान्य प्रमा
णातिक्रम अतिचार है।

चौथा द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जित
द्विपद या चतुष्पद रखने का आगार है, उतने से अधिक मिल
पर व्रत टूटने के भय से उन अधिक मिले हुए को अपने पास न
रखे, किन्तु दूसरे के पास रख दे और सोचे, कि मर्यादाकाल
समाप्त होने पर या मर्यादित द्विपद चौपद में कमी होने पर मैं इस
दूसरे से ले लूँगा, तो यह द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

पाँचवाँ कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। व्रत के आगार में
घर की जो वस्तुएँ रखी हैं, उन वस्तुओं से बाहर की वस्तुओं को,
मर्यादाकाल समाप्त होने पर या मर्यादा में रखी हुई वस्तुओं में
न्यूनता आने पर वापस लेने के विचार से दूसरे के पास रखे, तो
यह कुप्य प्रमाणितक्रम अतिचार है।

अतिचारों की एक व्याख्या यह भी होती है, कि ज्ञात न होने

पर स्वयं के अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थों का हो जाना। पदार्थ तो मर्यादा से अधिक हो गये हैं, लेकिन स्वयं को यह पता नहीं है, कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, किन्तु स्वयं यही समझता है, कि जो पदार्थ मेरे अधिकार में हैं वे मर्यादा में ही हैं, तो यह अतिचार है। यानी अजान पने में मर्यादा से अधिक पदार्थों का स्वयं के अधिकार में होना, यह अतिचार है। जब तक इस बात का पता नहीं है, कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, तब तक तो उन अधिक पदार्थों का अधिकार में होना अतिचार ही है, लेकिन पता होने पर भी मर्यादा से अधिक पदार्थों को अपने अधिकार में ही रखना, अनाचार है, और अनाचार होने पर व्रत भंग हो जाता है।

संक्षेप में यह पाँचों अतिचार का रूप हुआ। जो व्यक्ति इन पाँचों अतिचार से बच कर व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत दूषण रहित है, वही व्रत लेने का उद्देश्य पूरा करता है, और वही आराधिक तथा आत्मकल्याण करनेवाला है।

❀ इति शुभम् ❀

व्याख्यान सार-संग्रह पुस्तकमाला का १६ वाँ पुष्प

श्रीमज्जैनाचार्य्य

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज

के

व्याख्यानों में से:—

श्रावक के तीन गुण व्रत

सम्पादक और प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय

का

हितेच्छु श्रावक मण्डल,

रतलाम (मालवा)

वि० संवत् १९९६
वीर संवत् २४६५
ईस्वी सन् १९३९

मूल्य ≡)

प्रथम संस्करण
१०००

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय

का

हितेच्छु श्रावक मण्डल

रतलाम (मालवा)

अखिल भारतीय

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ऑफिस

बम्बई द्वारा

प्रमाणित

मुद्रक—

के० हमीरमल लूणियां जैन

अध्यक्ष—

दि डायमण्ड जुबिली (जैन) प्रेस, अजमेर

प्रासंगिक दो शब्द

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब के फरमाये हुवे, मंडल से संग्रहित व्याख्यानों में से "श्रावक के तीन गुणव्रत" नामक यह पुस्तक "व्याख्यानसार संग्रह पुस्तक माला" का सोलहवां पुष्प आपके सन्मुख उपस्थित करते हुए हमें परम हर्ष होता है। इससे पहले व्याख्यानों में से सम्पादित कराकर पन्द्रह पुष्प यह मंडल प्रकाशित कर चुका है। जिन्हें जैन एवं जैनेतर जनता ने बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा और अपनाया है। इससे मंडल उत्साहपूर्वक यह पुस्तक सम्पादन कराके आपके करकमलों में पहुंचा रहा है। मंडल से प्रकाशित साहित्य के मुख्य दो विभाग हैं- (१) कथा विभाग और (२) तत्त्वविभाग। यह पुस्तक तत्त्वविभाग की है। तत्त्वविभाग ऐसा विषय है कि इसका जितना विवेचन किया जाय हो सकता है। इन व्रतों का संसार की शान्ति से अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है, जो विषय-प्रवेश से एवं व्रतों के स्वरूप से आपको अनुभव होगा।

नियमानुसार यह पुस्तक अखिल भारतवर्षीय श्री श्वे० स्था० जैन कॉन्फ्रेन्श ऑफिस बम्बई द्वारा-साहित्य निरीक्षक समिति से

प्रमाणित कराली गई है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य महाराज साहब जो व्याख्यान फरमाते हैं वे साधुभाषा में ही होते हैं फिर भी संग्राहक और सम्पादक द्वारा भाषा एवं भाव उलट जाने की भूल होगई हो तो उस भूल के उत्तरदायी वे ही हैं, पूज्य श्री का कोई दोष नहीं है। जो महाशय ऐसी भुलें हमे शुद्ध भावों से दिग्दर्शन करावेंगे उनका हम अभार मानेंगे और आगामी संस्करण में उस त्रुटि को सुधारने का प्रयत्न करेंगे। इत्यलम्।

रतलाम
आषाढ़ी पूर्णिमा
सं० १९९६ वि०

भवदीय—
बालचंद श्रीश्रीमाल, वर्द्धभान पीतलिया
सेक्रेटरी प्रेसीडेण्ट

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्रीहुक्मीचंदजी महाराज की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मंडल,
रतलाम (मालवा)

विषय सूची

विषय				पृष्ठ

विषय प्रवेश

आत्मा, अनादि काल से सुखाभिलाषी होकर सुख की खोज में इतस्ततः परिभ्रमण करता हुआ स्वर्ग मर्त्य और पाताल के सभी स्थानों को-एक बार नहीं किन्तु अनेक बार-स्पर्श कर आया, और जिन्हें आत्मा सुख का साधन मान रहा है, उन रत्नों, आभूषणों, महल एवं अप्सराओं का स्वामी बन कर उनका उपभोग भी कर आया, फिर भी इस आत्मा को कहीं भी सुख नहीं मिला, किन्तु वे सुख के साधन-भोगे हुए भोग-दुःख बढ़ाने के कारण ही हुए तथा हो रहे हैं। कवि ठीक ही कहता है, कि—

न संसारोत्पन्नं चरित मनुपश्यामि कुशलं ।
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ॥

महद्भिः पुण्यौघै श्चिर परिग्रहीताश्च विषया ।
महान्तो जायन्ते व्यसनमिवदातुं विषयिणाम् ॥

[भर्तृहरि—वैराग्य शतक]

अर्थात्—संसार से उत्पन्न चरित्रों पर जब दृष्टिपात किया जाता है, तो उनमें कुशलता नहीं दिखाई देती, अपितु पुण्य-फल स्वरूप स्वर्गादि सम्पत्ति भयावह ही दीख पड़ती है। अर्थात् पुण्य क्षय होने पर स्वर्गादि से भी पतन होता है, और पुण्य-समूह के प्रभाव से बहुत दिनों तक जिस सामग्री का संचय किया है, वह विषय-सामग्री अन्त समय में विषयासक्तों के लिए सन्ताप देने वाली बन जाती है, तथा आत्मा आर्त्त रौद्र ध्यान के कारण दुर्गति का पथिक हो जाता है।

जैन शास्त्र भी यही कहते हैं, कि पहले तो विषय सुख के साधनों को प्राप्त करने में दुःख, यदि प्राप्त हो गये तो रक्षण का दुःख, पश्चात् उन्हें भोगते समय अतृप्ति अथवा इन साधनों को कोई छीन न ले इस बात की चिन्ता का दुःख और जब वे साधन छूट जाते हैं, तब वियोग का दुःख। इस तरह विषय-सुख के साधनों में दुःख बता कर ज्ञानी महापुरुष कहते हैं, कि हे आत्मा! यदि तुझे सच्चे और वास्तविक सुख की चाह है, तो जिनमें तूने सुख मान रखा है, उन विषय-सुख के साधनों से अपना ममत्व हटा; उनकी ओर से त्याग-भावना स्वीकार कर। जब तेरे में ऐसी त्याग-भावना होगी, और तू विषय-सुख के साधनों को त्यागता जावेगा, तब ही तुझे सुख का अनुभव होगा।

ऊपर बताई गई त्याग-भावना को आचरण में लाने के लिए शास्त्रकारों ने दो मार्ग का विधान किया है। पहला मार्ग है सांसारिक पदार्थों, अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने के बाधक कारणों का सर्वथा (पूर्ण) त्याग और दूसरा मार्ग है आंशिक अथवा देश से त्याग। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, कि उनने जिनको हेय मान लिया है उन कार्यों या पदार्थों को अविलम्ब पूरी तरह त्याग देते हैं। इस तरह का त्याग करनेवाले, महाव्रती कहे जाते हैं। ऐसा त्याग वे ही कर सकते हैं, जिनका निश्चय में तो प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कषाय का क्षयोपशम हो गया है, और व्यवहार में जिन्हें सांसारिक पदार्थों की ओर से उपरति घृणा अथवा वैराग्यभावना हो गई है; तथा जो असंयमपूर्ण जीवन से निकल कर संयमपूर्ण जीवन विताना उचित एवं आवश्यक मानते हैं। किन्तु जो लोग इस सीमा तक नहीं पहुँचे हैं, जिनके प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ है, अथवा सांसारिक कार्य व्यवहार एवं विषय-भोग के साधनों से जिनका ममत्व पूरी तरह नहीं हटा है, अथवा जो इन सब को सर्वथा त्यागने में असमर्थ हैं, फिर भी जो इनके त्याग का मार्ग अपनाकर उस पर आगे बढ़ना चाहते हैं, वे इन सब को आंशिक अथवा देश से त्यागते हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्रकारों ने पाँच अणुव्रत का विधान किया है। यद्यपि ऐसे देशत्यागियों का भी ध्येय तो वही

रहता है, जो पूर्ण त्यागियों का होता है, परन्तु देश से त्याग करनेवाले लोग उस ध्येय की ओर धीरे धीरे बढ़ना चाहते हैं। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये पाँच अणुव्रत का पालन गृहस्थावस्था में भी किया जा सकता है और इन व्रतों को पालने वाले लोग व्रतधारी श्रावक कहे जाते हैं।

यद्यपि महाव्रती न होनेवालों के लिए शास्त्र में पाँच अणुव्रत का विधान है और गृहस्थ श्रावक उन अणुव्रतों को स्वीकार भी करते हैं, परन्तु गृहस्थावस्था में अनेक ऐसी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, अथवा ऐसे आकर्षक कारण हैं, कि जिससे स्वीकृत अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयाँ जान पड़ने लगती हैं। अतः ऐसे अणुव्रतधारियों को उन कठिनाइयों से बचाने के लिए शास्त्रकारों ने तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत बताये। तीन गुणव्रत पाँच अणुव्रतों में शक्ति—संचार करते हैं, विशेषता उत्पन्न करते हैं, उनके पालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं और मूल अणुव्रतों को निर्मल रखते हैं।

अणुव्रतों की सहायता के लिए बताये गये तीन गुण व्रतों में मुख्यतः वृत्ति संकोच को ही विशेषता दी गई है। जब तक गमनागमन कम न किया जावे, उपभोग-परिभोग की मर्यादा न की जावे, आजीविका के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति के विषय में औचित्य अनौचित्य का विवेक करके अनुचित प्रवृत्ति न त्याग

दी जावे, तब तक धारण किये हुए अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयों का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। इसी तरह गुण-व्रतों की रक्षा के लिए चार शिक्षा व्रतों का जो विधान किया गया है, उन शिक्षा व्रतों को स्वीकार करना भी आवश्यक है। क्योंकि गुणव्रतों में स्वीकृत वृत्ति संकोच को सुदृढ़ बनाने वाले शिक्षा व्रत ही हैं। गुणव्रत एवं शिक्षा व्रत, मूल अणुव्रत के प्राण स्वरूप हैं। जिस तरह शरीर तभी तक उपयोगी एवं कार्य साधक है, जब तक कि उसमें प्राण हैं, उसी तरह गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत के होने पर ही मूल अणुव्रत भी उपयोगी एवं कार्य साधक हो सकते हैं। इस बात को दृष्टि में रख कर शास्त्रकारों ने श्रावक के बारह व्रतों को मूलव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इन तीन भागों में विभक्त कर दिया है। श्रावक के मूल पाँच व्रत–स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण हैं। इन पाँच मूल व्रतों के पश्चात् दिक् परिमाण, उप-भोग परिभोग परिमाण और अनर्थदण्ड विरमण ये तीन गुण-व्रत हैं तथा सामायिक, देशावगासिक, पौषधोपवास एवं अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षा व्रत हैं।

दिक्परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थ दण्ड विरमण व्रत, ये तीनों गुण व्रत हैं। अर्थात् जिस भावना से अव्रत का त्याग किया जाता है, उस त्याग की भावना

को आचरण में लाने के लिए वृत्ति का संकोच करनेवाले ये ही तीन व्रत हैं। इनको धारण एवं पालन करने में बहुत ही सावधानी तथा विवेक की आवश्यकता है। यदि इन व्रतों को निभाने के लिए वृत्ति का संकोच न किया गया और विवेक से काम न लिया गया तो गुण के बदले अवगुण पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए त्याग की भावना तो बढ़ी नहीं है, पुद्गलों पर से ममत्व हटा नहीं है, इन्द्रियों को प्रसन्नता देनेवाली अच्छी अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करने की लालसा बनी हुई है, फिर भी अमुक आरम्भ-समारम्भ अपने हाथ से करने का त्याग कर लें और दूसरे व्यवसायी व्यक्ति द्वारा तय्यार किया हुआ पदार्थ लेकर भोग लें तथा यह मानें कि हमने आरम्भ-समारम्भ का पाप नहीं किया है, किन्तु हमने सीधी वस्तु भोगी इसलिए हमारा पाप टल गया है, हम पाप से बचे हुए हैं, तो यह पाप से बचना नहीं है, अपितु आत्म वंचना है। पाप से बचने का यह मार्ग नहीं है। यह मार्ग गुण के बदले अवगुण उत्पन्न करनेवाला है। पाप से बचने के लिए तो अपनी लालसा सीमित करके त्याग-भावना को ही महत्व देना चाहिए। यदि ऐसा करने की क्षमता अभी नहीं है तो अपनी आवश्यकताओं को सादगी और विवेकपूर्वक पूरी करता हुआ ऐसा क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना तो ठीक है,

परन्तु वास्तविकता को दूसरा रूप देकर गुण के बदले अवगुण पैदा करना उचित नहीं है।

मतलब यह है कि गुणव्रतों को धारण एवं पालन करने में सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। तभी ये गुण व्रत, मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं। तीनों गुण-व्रत में किस किस तरह की मर्यादा करनी पड़ती है, तीनों का रूप क्या है, और इन गुण व्रतों से किस किस मूल व्रत में क्या क्या विशेषता आती है, आदि बातों के लिए तीनों व्रतों के विषय में आगे पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।

दिक् परिमाण व्रत

तीन गुण व्रतों में से प्रथम गुण व्रत और श्रावक के बारह व्रतों में से छट्ठे व्रत का नाम दिक् परिमाण व्रत है। दिक् का अर्थ है दिशा। जैन शास्त्रानुसार दिशाएँ तीन हैं, यथा—

दिसिव्वए तिविहे पण्णत्ते तंजहा
उड्डं अहेयं तीरियं।

अर्थात्—दिक्व्रत तीन तरह का है, ऊर्ध्व दिक्व्रत, अधः दिक्व्रत और तिर्यक दिक्व्रत।

अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा कहते हैं, नीचे की ओर को अधः दिशा कहते हैं और इन दोनों के बीच की ओर को तिर्यक दिशा कहते हैं। तिर्यक दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार भेद हैं, जो चार दिशा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चार दिशा के सिवा चार विदिशाएँ भी हैं, जिनके नाम ईशान,

आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य हैं। जिस ओर सूर्य निकलता है, उस ओर मुँह करके खड़ा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर पश्चिम दिशा होगी, बायें हाथ की ओर उत्तर और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। इसी तरह सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अधः (नीची) दिशा होगी। उत्तर तथा पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहा जाता है। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण कहते हैं। दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैऋत्य कोण तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य कोण कहा जाता है। ये चारों कोण विदिशा कहलाते हैं और विदिशाओं का समावेश दिशाओं में भी हो जाता है।

इन बताई गई दिशाओं में गमनागमन करने (जाने आने) के सम्बन्ध में जो मर्यादा की जाती है, जो यह निश्चय किया जाता है, कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओं में इतनी दूर से अधिक न जाऊंगा, उस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाण व्रत कहते हैं।

अब यह देखते हैं कि दिक्परिमाण व्रत क्यों स्वीकार किया जाता है, और दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने से श्रावकों को क्या लाभ होता है। श्रावक लोग जो पांच अणुव्रत—जो श्रावकों के मूल व्रत—हैं—स्वीकार करते हैं, उन व्रतों पर स्थिर रह कर

आगे बढ़ना श्रावक का लक्ष्यबिन्दु होता है; परन्तु इसके लिए चित्त
की शान्ति आवश्यक है। चित्त की शान्ति के बिना ध्येय के मार्ग
पर स्थिर ही नहीं रह सकता, तो आगे तो बढ़ ही कैसे सकता है!
और चित्त-शान्ति का उपाय है वृति का संकोच। जब तक वृति
का संकोच नहीं होता, तब तक चित्त में चंचलता रहती ही है।
जिसकी वृति संकुचित नहीं है, वह जब किसी स्थान के विषय में
कोई बात सुनता है, तब उसे वह स्थान देखने, उस स्थान विषयक
अनुभव प्राप्त करने और वहां के पदार्थों को भोगने का विचार हो
ही जाता है। असंकुचित वृत्तिवाले मनुष्य का यह स्वभाव ही
होता है। इस चंचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक
है और तब त्याग-भावना छूट कर विलासिता अपना आधिपत्य
जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक को, अपनी साधारण
आवश्यकताएँ दृष्टि में रख कर दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा
करने रूप दिक्‌परिमाण व्रत अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

अब यह देखते हैं कि दिक् परिमाणव्रत धारण करने पर श्रावक
के मूल व्रतों में किस प्रकार क्या विशेषता आती है, अथवा क्या
लाभ होता है। इसके लिए पहले श्रावक के स्थूल अहिंसा व्रत के
सम्बन्ध में विचार करते हैं। अपने सांसारिक जीवन को दृष्टि में
रख कर श्रावक स्थूल अहिंसा व्रत ही स्वीकार करता है। सूक्ष्म
अहिंसाव्रत का पालन करना श्रावक के लिए उस समय तक सम्भव

नहीं, जब तक कि वह गार्हस्थ्य जीवन में है। इसलिए वह स्थूल अहिंसा व्रत ही स्वीकार करता है। स्थूल अहिंसा व्रत का क्या रूप है, आदि बातों का वर्णन अहिंसा व्रत की व्याख्या करते हुए किया जा चुका है, इसलिए इस स्थान पर इस विषयक वर्णन अनावश्यक है। यहां तो यह बताना है कि स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार और स्थूल हिंसा का त्याग करते हुए श्रावक लोग जिस आरम्भजा हिंसा का आगार रखते हैं, वह आरम्भजा हिंसा का आगार सभी स्थानों के लिए खुला हुआ है। इस आगार की कोई सीमा नहीं की है, परन्तु दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस आगार की भी सीमा हो जाती है। अर्थात् स्थूल अहिंसा व्रत के आगार में जो आरम्भजा हिंसा रखी गई है, वह आरम्भजा हिंसा दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर असीम नहीं रहती, किन्तु केवल उतनेही स्थान के लिए रह जाती है, जितना स्थान दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा गया है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते समय गमनागमन के लिए रखी गई सीमा के बाहर की आरम्भजा हिंसा भी छूट जाती है और इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक के स्वीकृत अहिंसाव्रत का क्षेत्र विस्तृत तथा आगार में रखी गई आरम्भजा हिंसा का क्षेत्र परिमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा मूलव्रत स्थूल सत्य है। इस व्रत का रूप भी

पहले बताया जा चुका है। इस व्रत को स्वीकार करनेवाला
श्रावक स्थूल झूठ का तो सभी क्षेत्र के लिए त्याग करता है, परन्तु
गृहस्थावस्था के कारण वह जिस सूक्ष्म झूठ का त्याग नहीं कर
सका है, वह सूक्ष्म झूठ सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। आगार
में रहे हुए सूक्ष्म झूठ के विषय में क्षेत्र की कोई मर्यादा नहीं है,
कि इस क्षेत्र के बाहर मैं सूक्ष्म झूठ भी न बोलूँगा। दिक्परिमाण
व्रत स्वीकार करने पर इस विषय की मर्यादा हो जाती है। अर्थात्
जो सूक्ष्म झूठ नहीं त्यागा गया है, वह सूक्ष्म झूठ भी केवल उसी
क्षेत्र के लिए शेष रह जाता है, जो क्षेत्र गमनागमन के लिए दिक्-
परिमाण व्रत में रखा गया है। उसके सिवा शेष क्षेत्र में जाकर
सूक्ष्म झूठ बोलने का त्याग हो जाता है।

श्रावक का तीसरा मूलव्रत स्थूल चोरी से निवृत होना है।
श्रावक, स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है,
परन्तु सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई है। दिक् परिमाण
व्रत स्वीकार करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी सीमित होकर केवल
उतने ही क्षेत्र के लिए रह जाती है, जितना क्षेत्र दिक्परिमाण व्रत
में गमनागमन के लिए रखा गया है।

श्रावक का चौथा मूलव्रत स्वदारसन्तोष और परदार विवर्जन
है। श्रावक यह व्रत भी स्थूल रूप से ही स्वीकार करता है। क्योंकि
गृहस्थावास में रहते हुए श्रावक परदार का त्याग भी स्थूल रूप

से ही कर सकता है, सर्वथा त्रिकरण त्रियोग से नहीं कर सकता। उसे अपनी सन्तान को अनीति-मार्ग से बचाने के लिए नीति-मार्ग में जोड़ना ही पड़ता है। श्रावक पर-स्त्री का जो त्याग करता है, वह त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए है, परन्तु स्व-स्त्री का जो त्याग नहीं कर सका है, वह स्वस्त्री का सम्बन्ध सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर स्व-स्त्री का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। यानी मर्यादित क्षेत्र के बाहर जाकर स्वदार के साथ न तो दाम्पत्य व्यवहार कर सकता, न किसी को अपनी पत्नी ही बना सकता है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस चौथे व्रत में भी प्रशस्तता आती है।

श्रावक का पाँचवाँ मूलव्रत परिग्रहपरिमाण है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस व्रत में भी प्रशस्तता आ जाती है। क्योंकि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक मर्यादित परिग्रह का रक्षण-अथवा उसकी पूर्त्ति उसी क्षेत्र में रहकर कर सकता है, जो क्षेत्र उसने दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा है। उस क्षेत्र के बाहर जाकर न तो मर्यादित परिग्रह की रक्षा ही कर सकता है, न उसकी पूर्त्ति के लिए व्यवसाय ही कर सकता है। इसके सिवा जब-तक दिक्परिमाण द्वारा क्षेत्र की सीमा नहीं की जाती, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नहीं होता

और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक का पाँचवाँ मूलव्रत भी प्रशस्त हो जाता है।

दिक्परिमाण व्रत का श्रावक के पाँचों मूलव्रत पर कैसा सुप्रभाव पड़ता है, यह बताया जा चुका है। अब यह देखते हैं, कि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार किस तरह किया जाता है। दिक्-परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए किसी एक स्थान को केन्द्र बना कर, उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं अमुक दिशा में इस स्थान से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। ऊर्ध्व दिशा के लिए यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए, कि मैं अमुक केन्द्र स्थान से ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। वृक्ष पहाड़ घर महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक दूर न जाऊँगा। अधः दिशा के लिए भी यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं केन्द्र स्थल से नीचे की ओर जल, स्थल, खदान, भूमिगृह आदि में इतनी दूर से अधिक नीचा न जाऊँगा। तिर्यक् दिशा पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य तथा वायव्य के लिए भी ऐसी ही प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं पूर्वादि अमुक दिशा और ईशानादि अमुक विदिशा में केन्द्र स्थल से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। इस तरह अपने गमनागमन के क्षेत्र

को सीमित बनाने की प्रतिज्ञा का नाम दिक्परिमाण व्रत है, जो ऊपर बताई गई रीति से धारण किया जाता है।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाले के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है, कि किसी स्थल विशेष को ही केन्द्र बनाया जावे और वहीं से गमनागमन विषयक मर्यादा की जावे। यह बात व्रत स्वीकार करनेवाले की इच्छा और सुविधा पर निर्भर है। व्रत स्वीकार करनेवाला यदि चाहे, तो जहाँ व्रत स्वीकार कर रहा है उसी स्थान को केन्द्र मान सकता है, जहाँ रहता है उस स्थान को केन्द्र मान सकता है, अथवा किसी दूसरे स्थान विशेष को भी केन्द्र मान सकता है। इसी प्रकार वह इस बात के लिए भी स्वतन्त्र है, कि किसी दिशा में आवागमन का क्षेत्र कम रखे और किसी में अधिक।

गमनागमन का परिमाण कोस, मील, हाथ, फुट, इंच के रूप में भी कर सकता है और इस तरह भी कर सकता है, कि मैं अमुक दिशा में अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड़, नदी, वन आदि से आगे नहीं जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है, कि मैं माने हुए अमुक केन्द्र स्थल से अमुक दिशा में इतने दिन या इतने समय में पैदल अथवा अमुक वाहन से जितनी दूर तक जा सकूँ, उससे आगे नहीं जाऊँगा। इस प्रकार जिसकी जैसी इच्छा हो, वह उस तरह से दिक्परिमाण व्रत स्वीकार कर सकता है, लेकिन

<u>ीन गुण व्रत</u>

वह व्रत स्वीकार करते हुए जो व्यक्ति गमनागमन की सीमा
जितनी भी कम रखेगा, उसका व्रत उतना ही अधिक प्रशस्त
होगा और उसके मूल व्रतों को भी अधिक लाभ पहुँचेगा। इस
लिए जहाँ तक सम्भव हो, दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए,
मर्यादा में गमनागमन का क्षेत्र कम ही रखना अच्छा है।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए, अपनी स्थिति, आव-
श्यकता तथा शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए, और
जीवन-निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र गमनागमन के लिए रखना
आवश्यक है, उतने क्षेत्र के सिवा शेष क्षेत्र में गमनागमन करने
का त्याग करना चाहिए। केवल लालसावश गमनागमन के लिए
अधिक क्षेत्र सीमा में रखना उचित नहीं है।

दिक्परिमाण व्रत जीवन भर के लिए ही स्वीकार किया
जाता है। केवल अहो रात्रि—या कम समय के लिए की गई
गमनागमन की मर्यादा की गणना दसवें व्रत में होगी।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करनेवाले को वृत्ति का संकोच और
ममत्त्व का त्याग करना पड़ता है। बिना ऐसा किये इस व्रत की
रक्षा नहीं हो सकती। इस व्रत की रक्षा के लिए समय पर व्रत
धारी को हानि भी सहन करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए
किसी दिक्परिमाण व्रतधारी का कोई वस्त्र या आभूषण-मनुष्य
पशु, पक्षी या देव उठा ले गया अथवा पवन से उड़ गया। वह

वस्त्र या आभूषण ऐसे स्थान पर रखा या पड़ा हुआ है, जो उस व्रतधारी द्वारा मर्यादा में रखे गये क्षेत्र से बाहर है। यद्यपि वह व्रतधारी श्रावक अपने उस वस्त्र या आभूषण को पड़ा या रखा हुआ देख रहा है, फिर भी वह उस वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नहीं जा सकता। क्योंकि जिस स्थान पर वस्त्र या आभूषण है, वह स्थान उस व्रतधारी द्वारा मर्यादित क्षेत्र से बाहर है। यह बात दूसरी है, कि वह वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था उसी तरह, अथवा किसी दूसरी तरह मर्यादित क्षेत्र में आ जावे और वह व्रतधारी श्रावक अपनी उस चीज को ले ले, लेकिन उस चीज को लाने के लिए वह अपनी मर्यादा के क्षेत्र से बाहर कदापि नहीं जा सकता और यदि जाता है, तो वह अपना व्रत तोड़ता है। इस प्रकार इस व्रत का पालन करने में कठिनाइयाँ भी सहनी पड़ती हैं, परन्तु जो उन कठिनाइयों को सहता है, जो अपनी वृत्ति का संकोच करता है और जो ममत्व का त्याग करता है, वही इस व्रत का पालन करने में समर्थ हो सकता है। साथ ही यह भी है, कि जो इस व्रत का पूरी तरह पालन करता है, उसकी वृत्ति भी संकुचित होती जाती है तथा उसमें ममत्व-त्याग की क्षमता भी बढ़ती जावेगी।

दिक् परिमाण व्रत के अतिचार

तीर्थंकर भगवान ने दिक्परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं, जो जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। प्रश्न होता है, कि अतिचार कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो त्याग किया जाता है, उस त्याग का पालन करते हुए प्रसङ्ग विशेष से परिमाण की धाराओं में परिवर्तन होकर जो स्खलना होती है, उसको सामान्य और विशेष भेद के कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार भागों में विभक्त किया गया है। किसी भी त्यागे हुए कार्य या पदार्थ के विषय में परिणामों में मलिनता आना और उस कार्य या पदार्थ को अपनाने का मन में संकल्प करना, यह अतिक्रम है। उस मन के संकल्प को मूर्त्त स्वरूप देने का प्रयत्न करना–सामग्री जुटाना आदि–व्यतिक्रम कहा जाता है। इस तरह के प्रयत्न में

मूर्छित होना और ऐसा कार्य करना कि जिससे व्रत का भंग समीप हो जाय, अतिचार कहलाता है। और उस त्यागे हुए कार्य को कर डालना, अथवा त्यागे हुए पदार्थ को स्वीकार कर लेना तथा इस तरह व्रत भंग कर डालना, अनाचार है। अतिचार की शुद्धि तो प्रायश्चित्त लेने एवं पुनः व्रत स्वीकार करने से ही होती है, लेकिन अनाचार, अतिचार के पश्चात् होता है, इसलिए भगवान् ने अतिचार का रूप बता कर व्रतधारी को इस बात की सावधानी दी है, कि इन अतिचारों को समझ कर इन से बचते रहना चाहिए, अन्यथा कभी अनाचार होना और व्रत का टूट जाना स्वाभाविक है। भगवान ने, आनन्द आदि श्रावकों को सम्बोधन करके प्रत्येक व्रत के अतिचार बताये हैं। इस दिक्परिमाण व्रत के भी भगवान ने, पाँच अतिचार कहे हैं, जिनके नाम ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम, अधः दिशि परिमाणातिक्रम, तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृतिभ्रंश हैं। व्रतधारी श्रावक के लिए यह आवश्यक है, कि इन अतिचारों को जान कर इनसे बचता रहे।

पहला अतिचार ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है। ऊर्ध्व दिशा में गमनागमन करने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र का जान-बूझ कर नहीं, किन्तु अज्ञान में भूल से उल्लंघन हो जाय, वह ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है।

दूसरा अतिचार अधः दिशि परिमाणातिक्रम है। नीची दिशा के लिए किये गये परिमाण का जान बूझ कर नहीं, किन्तु भूल या असावधानी से उल्लंघन होजाय, वह अधः दिशि परिमाणातिक्रम है।

तीसरा अतिचार तिर्यक्‌दिशि परिमाणातिक्रम है। तिर्यक्‌ दिशा-पूर्व पश्चिम आदि-के लिए गमनागमन का जो परिमाण किया है, उस परिमाण का भूल या असावधानी से उल्लंघन करना तिर्यक्‌दिशि परिमाणातिक्रम है।

चौथा अतिचार क्षेत्रवृद्धि है। इस अतिचार का अर्थ यह है, कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके उस कम की गई सीमा को दूसरी दिशा की सीमा में जोड़ कर दूसरी दिशा की सीमा बढ़ा लेना। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्व दिशा में गमनागमन करने की मर्यादा ५० कोस की रखी है। परन्तु कुछ दिनों के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा, कि मुझे पूर्व दिशा में ५० कोस जाने का काम नहीं पड़ता है और पश्चिम दिशा में मुझे सीमा में रखी गई दूरी से अधिक जाना है। इसलिए पूर्व दिशा के लिए रखे गये ५० कोस में से कुछ कोस कम करके पश्चिम दिशा की मर्यादा में बढ़ा दूँ। इस तरह सोच कर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादित क्षेत्र ऊपर बताई गई रीति से बढ़ाता है, तो यह क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। यद्यपि ऐसा करने में उसने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर भी अतिचार है। क्योंकि

उसको अपना मर्यादित क्षेत्र घटाने का अधिकार तो है, लेकिन दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा की गई है, उस मर्यादित क्षेत्र में वृद्धि करने का अधिकार उसे नहीं है। इस कारण एक ओर का क्षेत्र घटा कर उसके बदले दूसरी ओर का क्षेत्र बढ़ाना, व्रत की अपेक्षा होने के कारण अतिचार है।

पाँचवाँ अतिचार स्मृतिभ्रंश है। क्षेत्र की मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ जाना, अथवा 'मैं शायद अपनी मर्यादित क्षेत्र की दूरी तक तो चल चुका होऊँगा' ऐसा विचार होने के पश्चात् भी निर्णय किये बिना आगे बढ़ जाना, स्मृतिभ्रंश अतिचार है।

इन पाँच अतिचारों को समझ कर व्रत की रक्षा के लिए इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही, दिक्परिमाण व्रत का पूरी तरह पालन कर सकता है और मूल व्रतों में गुण उत्पन्न कर सकता है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

तीन गुण व्रतों में से दूसरा और श्रावक के बारह व्रतों में से सातवाँ व्रत उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है। दिक्परिमाण व्रत धारण करने के पश्चात् इस सातवें व्रत को धारण करने की क्या आवश्यकता है, यह बताने के लिए कहा गया है, कि पाँच मूल व्रत धारण करनेवाले श्रावक के लिए, उन व्रतों की रक्षा एवं उनकी वृद्धि के उद्देश्य से, वृत्ति का संकोच करना आवश्यक है। वृत्ति का संकोच करने के लिए ही दिक्परिमाणव्रत स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस व्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहाँ के पदार्थादि से ही निवृत्ति होती है, मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों का उपभोग-परिभोग उसके लिए सर्वथा खुला हुआ है। मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की कोई सीमा मर्यादा नहीं है, जिससे जीवन अनियमित रहता है और जिसका जीवन अनियमित है, उसके

मूल व्रत भी निर्मल नहीं रह सकते। इस बात को दृष्टि में रख कर ही यह सातवाँ व्रत बताया गया है। इस व्रत के स्वीकार करने पर, छट्टे व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है और इस प्रकार वृत्ति का संकोच होता है।

जीवन-निर्वाह के लिए अथवा शारीरिक सुख के लिए, पदार्थों का सेवन करना उपभोग-परिभोग कहलाता है। जो वस्तु एक ही बार काम में लाई जा सकती है, एक बार काम में आ चुकने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर में पुनः काम में नहीं लाई जा सकती, वह चीज उपभोग्य मानी गई है। ऐसी चीज को काम में लेना उपभोग कहलाता है। उपभोग किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते हैं—

उपभोगः सकृद्भोगः स चासनपानानुलेपनादिनां।

टीकाकार का कहना है, कि जो एक बार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना—काम में लेना—उपभोग है। जैसे एक बार जो भोजन खाया जा चुका है, या जो पानी एक बार पिया जा चुका है, वह भोजन पानी फिर खाया पिया नहीं जा सकता। अथवा अंगरचना या विलेपन की जो वस्तु एक बार काम में आ चुकी है, वह फिर काम में नहीं आ सकती। इसी तरह जो जो वस्तु एक बार काम में आ चुकने के पश्चात्

फिर काम में नहीं आतीं, उन वस्तुओं को काम में लेना, उपभोग कहलाता है। इसके विरुद्ध जो वस्तु एक बार से अधिक बार काम में ली जा सकती है, उस वस्तु को काम में लेना, परिभोग कहलाता है। परिभोग किसे कहते हैं, इसके लिए टीकाकार कहते हैं—

परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग्यः स चासन शयन वसन वनितादिनां।

टीकाकार कहते हैं, कि जो वस्तु फिर-फिर भोगी जा सके, उसको भोगना, परिभोग है। जैसे आसन, शैया, वस्त्र, वनिता आदि।

उपभोग परिभोग की व्याख्या इस तरह भी की जा सकती है, कि जो चीज शरीर के आन्तरिक भाग से भोगी जा सकती है, उसको भोगना उपभोग है और जो चीज शरीर के बाहरी भागों से भोगी जा सकती है, उस चीज को भोगना परिभोग है। ऐसी उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओं के विषय में यह मर्यादा करना, कि मैं अमुक-अमुक वस्तु के सिवा शेष वस्तुएँ उपभोग परिभोग में नहीं लूँगा, उस मर्यादा को उपभोग परिभोग परिमाणव्रत कहा जाता है। इस उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य है, शारीरिक आवश्यकताओं को मर्यादित करना। जिसकी शारीरिक आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी, उसको अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उतनी ही अधिक प्रवृत्ति करनी पड़ेगी और उतना ही अधिक पाप करना पड़ेगा। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उसे उतनी प्रवृत्ति भी नहीं करनी

पड़ेगी, वह दूसरे धर्म-कार्य के लिए समय भी बचा सकेगा, और अधिक पाप से भी बचा रह सकेगा।

यद्यपि शरीरधारियों के लिए भोजनादि वस्तु का उपभोग परिभोग आवश्यक माना जाता है, लेकिन वह उपभोग परिभोग दो कारणों से होता है। एक तो शरीर की रक्षा के लिए—अनिवार्य आवश्यकता मिटाने के लिए—और दूसरा अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही, केवल शारीरिक सुख के लिए। यानी विषयजन्य सुख-प्राप्ति के लिए। इन दोनों कारणों में से, दूसरे कारण से किया जाने वाला उपभोग—परिभोग सर्वथा त्यागना चाहिए और अनिवार्य कारण से किये जाने वाले उपभोग परिभोग, यानी शरीर रक्षा के लिए जो आवश्यक है, उसके लिए यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं शरीर रक्षा के लिए केवल अमुक—अमुक पदार्थ का ही उपभोग परिभोग करूँगा, शेष का नहीं। इस प्रकार इस व्रत का उद्देश्य, विषयजन्य सुख के लिए पदार्थों का उपभोग परिभोग यथाशक्ति—सर्वथा त्यागना और शरीर—रक्षा के लिये उपभोग परिभोग में लिये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना है।

उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ, प्रधानतः अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चार भागों में विभक्त हैं। जिन वस्तुओं का शरीर—रक्षा के लिए खाना आवश्यक माना जाता है, अथवा क्षुधा मिटाने के लिए जो चीजें खाई जाती हैं, उन चीजों की गणना अशन में है।

अशन से मतलब पूर्ण भोजन है। क्षुधा मिटाने के लिए पूर्ण भोजन में खाये जानेवाले पदार्थ अशन कहलाते हैं।

जो वस्तुएँ दाँतों से चावे बिना ही पी जाती हैं, उन पेय वस्तुओं का पीना 'पान' कहलाता है। जो वस्तुएँ उपभोजन यानी नाश्ता के रूप में खाई जाती हैं, उनकी गणना खाद्य में है और जो वस्तुएँ केवल स्वाद के लिए अथवा मुँह साफ करने के नाम पर खाई जाती हैं, जिनसे पेट नहीं भरता है, क्षुधा शान्त नहीं होती है, फिर भी शौक के लिए खाई जाती हैं, उनकी गणना स्वाद्य में है।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य में विशेषतः कौन–कौनसी चीजें त्याज्य हैं, यह बताते हुए कहा गया है, कि अशन में, आलू, मूला, काँदा, लहसुन और मांस ❀ आदि भ्रष्ट पदार्थ त्याज्य हैं। पेय पदार्थों में मंस मदिरा आदि त्याज्य हैं। खाद्य यानी फलादि में

❀ श्री रत्नप्रभसूरि ने जब ओसवाल समाज की स्थापना की थी, तब सर्व प्रथम मांस मदिरा का त्याग कराया था। तब से ओसवाल जैन समाज मांसाहारी नहीं है, और अभी भी जाति का यह नियम है कि कोई भी ओसवाल मांसभक्षण या मदिरापान न करे। इस प्रकार वर्तमान समय में जैन धर्मी कहलाने वाले लोगों के घरों में मांस मदिरा का सेवन तो प्रायः नहीं किया जाता है, लेकिन ऐसे लोगों के घरों में भी आज कल ऐसी भ्रष्ट चीजों को काम में लिया जाने लगा है, जो प्रकारान्तर से मांस मदिरा ही हैं। उदाहरण के लिए रोग मुक्त होने के लिए

गूलर, बड़, पीपल, पिलंगू, अंजीर आदि वे फल त्याज्य हैं, जिनमें बीज बहुत होते हैं और त्रसजीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वाद्य में भी वे वस्तुएँ त्याज्य हैं, जो ऊपर बताई गई चीजों से मिलती जुलती हैं। मतलब यह, कि श्रावक को ऐसा अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य सर्वथा त्याग देना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापापयुक्त हो और ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य द्वारा ही जीवन का निर्वाह करना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापाप पूर्ण न हो। साथ ही जो ऐसा हो, कि जिसके बिना जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता, जो स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद हो और प्रकृति को सात्विक बनानेवाला हो।

अथवा शरीर को सशक्त बनाने के लिए उन अंग्रेजी दवाइयों को खाना पीना, जो मांस और मदिरा की श्रेणी में हैं। अंग्रेजी दवाइयों में प्रायः भ्रष्ट पदार्थों के सत अथवा शराब आदि का संमिश्रण रहता ही है, और कई दवाइयाँ तो ऐसी होती हैं, कि जिनका नाम यह स्पष्ट निर्देष करता है, कि यह दवा ऐसी है, जो श्रावक के लिए किसी भी दशा में खाने या पीने के योग्य नहीं है। जैसे कॉडलीवर आइल, Codliver Oil हेमोग्लोविन Hœmoglovin बकरे का लीवर Goats Liver और बन्दर का गिलेण्ड Monkeys Glands Etc., आदि। ऐसी भ्रष्ट चीजों का उपयोग विशेषतः आलस्य अथवा परिस्थिति का ज्ञान न करके आरम्भ समारम्भ छोड़ बैठने या उससे बचने के नाम पर होता है, लेकिन इस प्रयत्न में अल्प पाप के बदले महापाप हो जाता है और श्रावक के लिए पहले महापाप ही त्याज्य है।

जैसा आहार–संयम श्रावक के लिए जैनदर्शन में बताया गया है, लगभग वैसा ही आहार–संयम अन्य दर्शनकार भी बताते हैं। जैसे गीता में तीन प्रकार की प्रकृति बताते हुए कहा गया है, कि किस प्रकृतिवाला कैसा भोजन करता है, अथवा कैसे भोजन से कैसी प्रकृति बनती है। सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण का रूप बताकर त्रिगुणातीत होने का उपदेश दिया गया है तथा यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति त्रिगुणातीत नहीं हो सकता है, तो उसके लिए सात्विक प्रकृति की अपेक्षा राजस प्रकृति और राजस प्रकृति की अपेक्षा तामस प्रकृति त्याज्य है। इस प्रकार इस कथन द्वारा उस आहार का भी निषेध किया गया है, जो राजस या तामस प्रकृति बनाने वाला है।

कौनसा भोजन किस प्रकृति का उत्पादक या पोषक है, यह बात ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक बताई गई है। ग्रन्थों में कहा गया है, कि जिससे बल, उत्साह, आयु और सहनशीलता की वृद्धि हो, जो रसमय स्निग्ध स्वादयुत एवं धातुपोषक हो, वह आहार सात्विक है। जो कड़ुआ, खट्टा, क्षारयुक्त, ऊष्ण और दाहक हो तथा जो अहंकार की वृद्धि करे, वह आहार राजस है। जो रस–हीन, उच्छिष्ट, बासी तथा बिगड़ा हुआ हो और जो क्रोधादि का उत्पादक हो, वह आहार तामस है।

भोजन से, मन, वाणी और स्वभाव का पूर्ण सम्बन्ध है। जो जैसा भोजन करता है, उसके मन, वाणी और स्वभाव में वैसा ही

सद्गुण या दुर्गुण आता है। व्यवहार में भी कहावत है कि 'जैसा आहार होता है, वैसा विचार, उच्चार और व्यवहार भी होता है।' इस प्रकार आहार पर संयम रखना आवश्यक है और ऐसे आहार से बचे रहना भी आवश्यक है, जो विकृति उत्पन्न करनेवाला है, जिसके लिए महान् पाप हुआ या होता है और जो लोक में निन्द्य माना जाता है।

श्रावक को यथा सम्भव सचित वस्तु भोगने का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ है सजीव, यानी जीव सहित। जिसमें चित शक्ति मौजूद है, उसे सचित कहते हैं, जैसे कच्चा हरा साग, बिना पीसा हुआ या बिना पकाया हुआ अन्न और जिनमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति है, वे बीज। इसी प्रकार बिना पकाया हुआ या असंस्कृत पानी भी सचित है। श्रावक के लिए उचित है, कि जहां तक भी सम्भव हो, ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना चाहिए, जो सचित हो। यद्यपि ऐसा न करने-वाला श्रावक श्रावकत्व से नहीं गिरता है, लेकिन सचित का त्याग करना, श्रावकत्व को प्रशस्तता देना है। इसलिए जहाँ तक हो सके, श्रावक को सचित आहार का त्याग करना चाहिए। सचित का त्याग करने में, श्रावकों को किसी बड़ी कठिनाई का सामना भी नहीं करना पड़ सकता। क्योंकि गृहस्थ श्रावक सब साधन-सम्पन्न होता है, और जब तक उसने आरम्भजा हिंसा को नहीं

त्यागा है, तब तक उसके लिए भोजन पानी पकाने यानी अचित बनाने का भी निषेध नहीं है। बल्कि शास्त्र में भी जहाँ श्रावक के भोजनादि का वर्णन है, वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि—

असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडाविंई उवक्खडावेइत्ता।

अर्थात्—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य निपजा कर यानी बना कर भोगा।

इस प्रकार श्रावक, भोजन पानी आदि को अपने उपभोग में लाने के योग्य बनाने में स्वतन्त्र है। इसलिए श्रावक को अपना श्रावकत्व प्रशस्त करने के लिए जहाँ तक भी सम्भव हो, सचित अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना उचित है।

साधारणतया, श्रावक का खान पान सादा और सात्विक ही होना चाहिए। इस उपभोग परिभोग परिमाणव्रत का उद्देश्य भी यही है, कि श्रावक ऐसा ही भोजन पानी अपने काम में ले, जो सादा सात्विक और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो, तथा ऐसा भोजन पानी आदि त्याग दे, जो विकारी और सात्विक प्रकृति का नाश करने वाला हो। सातवाँ व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को, यह बात दृष्टि में रख कर ही खान पान विषयक मर्यादा करनी चाहिए और जो लोग एक दम से स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित खान-पान नहीं त्याग सकते, उनको अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा करके अपनी असीम लालसा सीमित

कर देनी चाहिए। लेकिन ऐसे श्रावक का भी ध्येय तो यही रहना चाहिए, कि मैं स्वाद के लिए किया जानेवाला या सचित खान पान का पूर्ण त्यागी बनूँ और इस प्रकार इस सातवें व्रत का उद्देश्य पूर्ण करूँ।

खान पान में आनेवाले पदार्थों की तरह उन दूसरे पदार्थों के विषय में भी मर्यादा करनी चाहिए, जो उपभोग में आते हैं। इसी तरह परिभोग में आनेवाले पदार्थों के लिए भी यह मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं अमुक अमुक परिभोग्य वस्तुओं के सिवा दूसरी वस्तुएँ परिभोग में न लूँगा। इस प्रकार की जानेवाली मर्यादा में केवल उन्हीं वस्तुओं की छूट रखना उचित है, जिन का परिभोग जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य है।

परिभोग्य—पदार्थों में उन सब पदार्थों की गणना है, जो शरीर को स्वच्छ, सुन्दर, सुवासित या विभूषित बनाते हैं, अथवा जो शरीर को आच्छादित रखते हैं या शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। दातुन करना, मुँह धोना, तेल उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्राभूषणपरिधान, पुष्पमाला धारण करना, केशर इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करना, छाता लगाना, जूता पहनना, रथादि वाहन पर बैठना, आसन शैया का उपयोग करना आदि कामों की गणना परिभोग में है। संक्षेप में, घ्राणेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनेक बार भोगी जाने-

वाली चीजों को भोगना, परिभोग है। कई वस्तुएँ ऐसी हैं, कि जिनका भोगना उपभोग में भी माना जा सकता है और परिभोग में भी, लेकिन किसी में भी मान कर उन सब वस्तुओं को भोगने का त्याग करना चाहिए, जिनके भोगे बिना भी व्रतधारी अपना कार्य चला सकता है, जीवन निर्वाह कर सकता है, और उन वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिए, जिनका भोगना व्रतधारी अपने लिए अनिवार्य मानता है। यानी यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए, कि मैं उपभोग और परिभोग में आनेवाली वस्तुओं में से अमुक अमुक वस्तु सर्वथा न भोगूँगा, अमुक वस्तु इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लाऊँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग नहीं करूँगा, अमुक समय पर ही अमुक वस्तु काम में लूँगा उसके पहले या पीछे काम में न लूँगा, और अमुक वस्तु इतने समय तक ही काम में लूँगा, इस समय के पश्चात् काम में न लूँगा। इस तरह वस्तु के उपभोग और परिभोग के लिए, द्रव्य क्षेत्र और काल से मर्यादा करने का नाम ही उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

उपभोग और परिभोग में आनेवाली वस्तुओं को, शास्त्रकारों ने २६ बोलों में संग्रह कर दिया है। प्रायः वे सभी उपभोग्य परिभोग्य वस्तुएँ इन २६ बोलों में आ गई हैं, जिनका उपयोग करना जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है। इन २६ बोलों

का आधार मिल जाने से व्रत लेनेवाले को बहुत सुगमता होती है। वह इस बात को समझ जाता है, कि जीवन के लिए प्रधानतः किन किन वस्तुओं का उपभोग परिभोग आवश्यक है, और यह समझने के कारण वह वैसी चीजों को मर्यादा में रखना नहीं भूलता, जिससे उसे किसी समय कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। शास्त्रकारों द्वारा बताये गये वे २६ बोल नीचे दिये जाते हैं।

(१) उल्लणिया विहि परिमाणः—मनुष्य जब प्रातःकाल उठ कर शौचादि से निवृत्त हो हाथ मुँह धोता है, तब उसे गीले हाथ मुँह पोंछने के लिए वस्त्र की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में ऐसा वस्त्र रूमाल टुवाल आदि कहा जाता है। ऐसे वस्त्र की मर्यादा करना।

कई लोग ऐसा वस्त्र रखना शौक या फेशन में मानते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा वस्त्र जीवन-सहायिका सामग्रियों में से एक है। हाथ मुँह पोंछने के लिए अलग वस्त्र न रख कर पहने हुए कपड़ों से अथवा अस्वच्छ वस्त्र से हाथ मुँह आदि पोंछना हानिप्रद है। ऐसा करने से या तो पहने हुए वस्त्र खराब होते हैं, अथवा मलिन वस्त्र के परमाणु शरीर में प्रविष्ट कर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथ मुँह आदि पोंछने के लिए एक विशेष वस्त्र रखना उचित है। वह वस्त्र कैसा हो, यह बात

आनन्द श्रावक के वर्णन से प्रकट है। आनन्द श्रावक ने इस सातवें व्रत के सम्बन्ध में जो मर्यादा की थी, उसमें उसने हाथ मुँह पोंछने के लिए ऐसा वस्त्र रखा था, जो रंगीन और सुवासित था तथा जिसके स्पर्श से आलस्य उड़कर स्फूर्ति आती थी।

(२) दन्तवण विहि परिमाणः—रात के समय सोये हुए मनुष्य के मुख में, श्वासोच्छ्वास के वायु द्वारा जो विकारी पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, उनको साफ करने के लिए दन्तधावन किया जाता है। उस दन्तधावन से सम्बन्धित पदार्थों के विषय में मर्यादा करना दन्तवण विहि परिमाण कहलाता है।

(३) फल विहि परिमाणः—दातुन करने के पश्चात् मस्तक और बालों को स्वच्छ तथा शीतल किया जाता है। ऐसा करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनके सम्बन्ध में मर्यादा करना फल विहि परिमाण कहा जाता है। *

---

* मस्तक को स्वच्छ तथा शीतल रखने से बुद्धि विकसित होती है और विकार शान्त रहते हैं, लेकिन आजकल के अनेक नवयुवक, मस्तक को स्वच्छ शान्त रखने के लिए शक्तिवर्द्धक फलों के बदले अंग्रेजी सेण्ट तेल आदि ऐसी चीजों का उपयोग करते हैं, जिनसे बुद्धि विकृत होती है, मस्तक अशान्त होता है और विकार उत्तेजित होते हैं। मस्तक को स्वच्छ करने के लिए आँवला त्रिफला आदि फल जैसे उपयोगी माने जाते हैं, वैसे उपयोगी वलायती सेण्ट तेल आदि नहीं हो सकते। बल्कि वलायती सेण्ट आदि चीजें हानिप्रद होती हैं। इसलिए श्रावक को ऐसी चीजें काम में न लेनी चाहिएँ।

(४) अभ्यंगण विहि परिमाणः—त्वचा सम्बन्धी विकारों को दूर करने और रक्त को सभी अवयवों में पूरी तरह संचारित करने के लिए जिन तैलादि द्रव्यों का शरीर पर मर्दन किया जाता है, उन द्रव्यों की मर्यादा करना अभ्यंगण विहि परिमाण है।

(५) उवटण विहि परिमाणः—शरीर पर लगे हुए तेल की चीकट तथा मैल को हटाने और शरीर में स्फूर्ति तथा शक्ति लाने के लिए उबटन (पीठी) लगाया जाता है। उस उबटन के सम्बन्ध में मर्यादा करना।

(६) मज्झण विहि परिमाणः—इस बोल में स्नान-विधि का परिमाण करना बताया है। अभ्यङ्गन और उबटन के पश्चात् स्नान किया जाता है, उसके सम्बन्ध में यह मर्यादा करना, कि इतनी बार से अधिक बार स्नान नहीं करूँगा, अथवा स्नान में अमुक प्रकार के इतने जल से अधिक जल व्यय न करूँगा।

(७) वत्थ विहि परिमाणः—स्नान के पश्चात् वस्त्र परिधान किया जाता है। उन वस्त्रों के विषय में मर्यादा करना कि मैं अमुक-अमुक तरह के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र शरीर पर धारण न करूँगा। इस तरह की मर्यादा में ऐसे वस्त्र रखना ही उचित है, जो लज्जा की रक्षा करनेवाले और शीतोष्णादि से बचाने वाले तो हों, परन्तु विकार पैदा करने वाले न हों।

(८) विलेपण विहि परिमाणः—वस्त्र परिधान के पश्चात्

शरीर पर ऐसे द्रव्यों का विलेपन किया जाता है, जो शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने वाले होते हैं। जैसे चंदन केसर कुंकुम आदि। इस तरह के द्रव्य की मर्यादा करना।

(९) पुष्फ विहि परिमाणः—इस बोल में पुष्पों की मर्यादा करने के लिए कहा गया है। मैं अमुक वृक्ष के इतने फूलों के सिवा दूसरे तथा अधिक फूल काम में न लूँगा, ऐसी मर्यादा करना पुष्फ विहि परिमाण है।

(१०) आभरण विहि परिमाणः—शरीर पर धारण किये जानेवाले आभूषणों की मर्यादा करना, कि मैं इतने मूल्य या भार (वजन) के अमुक आभूषण के सिवा और आभूषण शरीर पर धारण न करूँगा। ❀

(११) धूप विहि परिमाणः—इस बोल में वायु-शुद्धि के लिए की जाने वाली धूप (सुगन्धित द्रव्य जलाना) का परिमाण करना बताया गया है। जिस स्थान पर निवास किया जाता है, स्वास्थ्य की दृष्टि से वहाँ का वायु शुद्ध रहना आवश्यक है और

❀ शरीर पर आभूषण इसलिए धारण किये जाते हैं, कि शरीर अलङ्कृत भी रहे, और समय पर उन आभूषणों से सहायता भी ली जा सके। लेकिन आज ऐसे आभूषण धारण किये जाते हैं, कि जिनसे यह उद्देश्य पूरा नहीं होता। जो केवल फेशन के लिये पहने जाते हैं जिनका मूल्य अधिक नहीं होता, केवल दिखाऊ होते हैं। श्रावकों को ऐसे आभूषणों से बचना चाहिए।

धूपादि का उपयोग वायु शुद्धार्थ ही किया जाता है, परन्तु इसके लिए भी मर्यादा करना उचित है।

ऊपर जिन विधियों का परिमाण करना बताया गया है, वह उन पदार्थों के लिए है, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है, अथवा जो शरीर को विभूषित करते हैं। अब नीचे ऐसी चीजों की विधि का परिमाण बताया जाता है, जिनसे शरीर का पोषण होता है, शरीर को बल मिलता है, अथवा जो स्वाद के लिए काम में लाये जाते हैं।

(१२) पेज्ज विहि परिमाणः—जो पिये जाते हैं, उन पेय पदार्थों का परिमाण करना। पूर्व काल में भोजन मध्याह्न में किया जाता था, इस कारण प्रातःकाल के समय कुछ ऐसे पदार्थ पिये जाते थे, जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा की वृद्धि होती है। ❀

❀ आज कल भी कई लोग प्रातःकाल के समय चाय आदि पिया करते हैं, लेकिन यह उन पाश्चात्य देशों की नक़ल है, जहाँ सर्दी का प्रकोप रहता है। भारत, ऊष्ण देश है। यहाँ के लिए चाय, स्वास्थ्य-वर्द्धक नहीं हो सकती, किन्तु हानि देनेवाली है। यहाँ के लिए प्रधानतः दूध अनुकूल है, परन्तु हमारी असावधानी से दूध के कल्पवृक्ष सूखते जा रहे हैं। हमारी उपेक्षा के कारण भारत का पशुधन नष्ट हो रहा है। भारत में अनेक क़त्लखाने खुल गये हैं, फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हम दुधारु पशुओं की रक्षा न करके उन्हें उन लोगों के हाथों सौंप देते हैं, जो उन्हें क़त्ल कर डालते हैं।

गणना है, जो भोजन के साथ व्यंजन रूप से खाये जाते हैं। ऊपर पन्द्रहवें बोल में उन दालों की ही प्रधानता है, जो अन्न से बनती हैं। शेष सूखे या हरे साग की गणना साग में है। साग विषयक मर्यादा को साग विहि परिमाण कहते हैं।

(१८) माहुर विहि परिमाणः—इस बोल में मधुर फलों की मर्यादा करना बताया है। आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, बादाम, पिश्ता आदि सूखे फलों की मर्यादा करना माहुर विहि परिमाण है।

(१९) जिमण विहि परिमाणः—इसमें उन पदार्थों की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजन के रूप में क्षुधा-निवारणार्थ खाये जाते हैं। जैसे रोटी, बाटी, पूरी, पराठे आदि।

(२०) पाणी विहि परिमाणः—इसमें पानी की मर्यादा करने को कहा गया है। स्थान नाम या संस्कार भेद से जिसके नाम अलग अलग होते हैं, अथवा द्रव्य संयोग से जिसकी पर्याय पलट गई है, ऐसे पानी की मर्यादा करना पाणी विहि परिमाण है। शीतोदक, ऊष्णोदक, गन्धोदक अथवा खारा पानी, मीठा पानी आदि पानी के अनेक भेद होते हैं। इसलिए पानी के विषय में भी यह मर्यादा की जाती है, कि मैं अमुक प्रकार के पानी के सिवा दूसरा पानी न पियूँगा।

(२१) मुख वास विहि परिमाणः—इस बोल में उन पदार्थों

की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजनादि के पश्चात् स्वाद या मुख-शुद्धि के लिए खाये जाते हैं। जैसे पान, सुपारी, इलायची आदि।

(२२) उवाहण विहि परिमाणः—इसमें उन वस्तुओं की मर्यादा करना बताया गया है, जो पैर में पहनी जाती हैं। जैसे जूता, खड़ाऊँ आदि।

(२३) वाहण विहि परिमाणः—इसमें उन साधनों की विधि का परिमाण करने का कहा गया है, जिन पर चढ़ कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है। जैसे घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैलगाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, रथ, पालकी, नाव, जहाज आदि।

(२४) सयण विहि परिमाणः—इसमें उन वस्तुओं की मर्यादा है, जो सोने बैठने के काम आती हैं। जैसे पलंग, ढोलिया, खाट, पाट, आसन, बिछौना, मेज, कुर्सी आदि।

(२५) सचित विहि परिमाणः—इसमें सचित यानी जीव सहित ऐसे पदार्थों की मर्यादा बताई गई है, जो बिना अचित बनाये ही खाये जाते हैं और जिनके स्पर्श से मुनि महात्मा बचते हैं। श्रावक, श्रमणोपासक होता है। श्रमणों की सेवा उपासना उन्हें प्रासुक आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही की जाती है, और किसी तरह की—यानी शारीरिक—सेवा तो साधु लोग गृहस्थ से कराते ही नहीं हैं। और श्रावक प्रासुक आहार पानी आदि तभी

श्रमण को दे सकता है, जब वह स्वयं अचित भोग रहा हो। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, श्रावक को सचित का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि ऐसा न कर सके तो सचित की मर्यादा करनी चाहिए।

(२६) दव्व विहि परिमाणः—इस बोल में यह कहा गया है, कि ऊपर के बोलों में जिन पदार्थों की मर्यादा की है, सचित्त और अचित्त पदार्थों का जो परिमाण किया है, उन पदार्थों को द्रव्य रूप में संग्रह करके उनकी मर्यादा करे, कि मैं एक समय में, एक दिन में या आयु भर में इतने द्रव्य से अधिक का उपयोग न करूँगा। जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए अलग अलग मुंह में डाली जावेगी, अथवा एक ही वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए दूसरी–दूसरी वस्तु के संयोग के साथ मुंह में डाली जावेगी, उसकी गणना भिन्न भिन्न द्रव्य में होगी। इसलिए जब तक बन सके, श्रावक को रसलोलुप न रहना चाहिए।

ऊपर बताये गये २६ बोलों में पहले के ११ बोल शरीर को स्वच्छ स्वस्थ और सुशोभित बनानेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, मध्य के १० बोल खानपान में आनेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर की रक्षा करनेवाले अथवा शौक पूरा करनेवाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं। इन बोलों में, जीवन के लिए आवश्यक सभी उपभोग्य परिभोग्य पदार्थ आ जाते हैं। इन बोलों

। कई बोल तो ऐसे पदार्थों से सम्बन्धित हैं, जो वर्त्तमान समय के लोगों को आवश्यकता से अधिक जान पड़ते हैं, परन्तु शास्त्र में जो वर्णन है वह त्रिकालज्ञों द्वारा सामान्य विशेष सभी लोगों को दृष्टि में रखकर किया गया है। व्रत धारण करनेवालों में साधारण लोग भी होते हैं और राजा लोग भी होते हैं। इसीलिए शास्त्र में ऐसी विधि बताई गई है, कि जिससे किसी को कठिनाई में न पड़ना पड़े। शास्त्रकारों ने अपनी ओर से तो सभी बातें बता दी हैं, फिर जिसको जिसकी आवश्यकता नहीं है, वह उसे त्याग सकता है।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य श्रावक के जीवन को मर्यादित तथा सादा बनाना है, और उसकी आवश्यकताओं को इतना कम करना है, कि जिससे अधिक कम करना व्रत लेने वाले श्रावक के लिए सम्भव नहीं है। यह बात दूसरी है, कि कोई श्रावक एक दम से अपनी आवश्यकताएँ न घटा सके और इस कारण उसे व्रत की मर्यादा साधारण से अधिक रखनी पड़े, फिर भी उसका ध्येय तो यही होना चाहिए कि मैं अपना जीवन बिलकुल ही सादा बनाऊँ और अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही कम कर दूँ। जो श्रावक एक दम से आवश्यकताओं को नहीं घटा सका है तथा अपना जीवन पूरी तरह सादा नहीं बना सका है, वह यदि इस ओर धीरे धीरे बढ़ता है तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन उसको यह लक्ष्य विस्मृत न करना चाहिये।

श्रावक का यह कर्त्तव्य है, कि जिस तरह वह स्वयं जीवित रहना चाहता है, उसी तरह दूसरे को भी जीवित रहने दे। इस कर्त्तव्य का पालन वही कर सकता है, जिसकी आवश्यकताएँ साधारण हैं, बढ़ी हुई नहीं हैं। जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं, वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे को कष्ट में डाले, अथवा उसकी आवश्यकताओं के कारण दूसरे को कष्ट हो, यह स्वाभाविक है। जब चार आदमियों के निर्वाह योग्य भोजन वस्त्र आदि को एक ही आदमी अपने काम में ले लेगा, तब शेष तीन आदमियों को कष्ट उठाना ही पड़ेगा। यदि सब लोग अपना जीवन सादगी से बितावें, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ने दें, तो संसार में किसी को उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों की ओर से कोई कष्ट नहीं रह सकता। सभी लोगों का जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो सकता है। लेकिन कुछ लोगों ने अपनी आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ा रखी हैं, कि जिससे एक ही व्यक्ति के कारण हजारों लाखों मनुष्यों को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से वंचित रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग राजसी कही जानेवाली सुख सामग्री भोगते हैं और दूसरी ओर बहुत से लोग अन्न के बिना त्राहि-त्राहि करते हैं। इस प्रकार संसार में महान् विषमता फैली हुई है, और इस विषमता का कारण है कुछ लोगों का अपनी आवश्यकताएँ अत्यधिक बढ़ा लेना। जो लोग अन्न वस्त्र आदि जीवन के लिए आवश्यक

पदार्थों के न मिलने या कम मिलने से कष्ट पा रहे हैं, उनके लिए वे ही लोग उत्तरदायी हैं, जो ऐसी चीजों का दुरुपयोग करते हैं, अधिक उपभोग करते हैं, अथवा अपने पास संग्रह करके रखते हैं। जिनकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं वे लोग यदि अपनी आवश्यकताओं को घटा दें, उतना ही अन्न वस्त्र आदि काम में लें जितना कि काम में लेना अनिवार्य है और अपने पास ऐसी चीजें अधिक संग्रह न कर रखें, तो दूसरे लोगों को अन्न वस्त्र आदि न मिलने या कम मिलने के कारण कष्ट ही क्यों उठाना पड़े तथा साम्राज्यवाद और साम्यवाद की दल बन्दी में क्यों हो !

वास्तविक बात यह है कि सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए होना चाहिए, लेकिन किस लिए किया जाता है या माना जाता है, इस विषय में लोगों से भूल हो रही है। उस भूल के कारण ही लोग अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं, अथवा अधिक से अधिक पदार्थ अपने अधिकार में रखना चाहते हैं। सांसारिक पदार्थों का उपयोग किस लिए है, लेकिन माना किस लिए जाता है, यह बताने के लिए भर्तृहरि कहते हैं—

तृषाशुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान्।

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमाश्लिष्यति वधूं ।
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यतिजनः ॥

अर्थात् – मनुष्य का कंठ जब प्यास से सूखने लगता है, तब वह शीतल सुगन्धित जल पीता है। मनुष्य जब क्षुधा से पीड़ित होता है, तब शाकादि सामग्री के साथ भोजन करता है और जब कामाग्नि प्रदीप्त होती है, तब सुन्दर स्त्री को हृदय से लगाता है। इस प्रकार पानी भोजन स्त्री–अथवा ऐसी ही दूसरी चीजें पृथक् पृथक् व्याधि की औषधियाँ हैं एक एक दुःख मिटाने की दवा हैं–परन्तु मनुष्यों ने इनमें सुख मान रखा है।

इस प्रकार लोगों ने उन पदार्थों में सुख मान रखा है, जिनका उपभोग किसी दुःख को मिटाने के लिए ही किया जाता है और इसी कारण आवश्यकता न होने पर भी उन पदार्थों का उपभोग परिभोग किया जाता है, अथवा ऐसा प्रयत्न किया जाता है, कि जिससे उन पदार्थों का अधिक से अधिक उपभोग परिभोग किया जा सके। यदि ऐसा न हो, तो खाने के लिए पकवान साग और इसी प्रकार अन्य सुस्वादु वस्तुओं की क्या आवश्यकता है! भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है। भूख लगने पर रूखी सूखी रोटी भी प्रिय एवं सुस्वादु लगती है। ऐसी दशा में पकवान मिष्टान एवं साग चटनी अचार मुरब्बे या अन्य ऐसे ही पदार्थों की क्या आवश्यकता रहती है! लेकिन लोगों ने खाने पीने में आनन्द मान रखा है। लोग चाहते हैं, कि हम बिना भूख

भी अधिक से अधिक खावें। इस तरह लोग क्षुधा मिटाने के लिए खाने के बदले, रसेन्द्रिय का अधिक से अधिक पोषण करना चाहते हैं और इसीलिए क्षुधा न होने पर भी ऐसी सुस्वादु चीजें खा जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद, रोग उत्पन्न करनेवाली अधिक खर्च करानेवाली और अधिक पाप द्वारा तैयार होती हैं। रोग उत्पन्न होने का प्रधान कारण ऐसा खानपान ही है, जो क्षुधा न होने पर भी केवल स्वाद के लिए खाया-पिया जाता है।

स्वाद-लोलुप लोग, स्वाद के लिए अधिक खा पी कर अपना जीवन तक भी नष्ट कर डालते हैं। इसके लिए रोम के एक बादशाह की बात प्रसिद्ध है। कहा जाता है, कि रोम का एक बादशाह स्वादिष्ट पदार्थ खाने पीने का बहुत शौकीन था। वह अपने लिए अनेक प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थ बनवा कर खाता। खाने के पश्चात् वह ऐसी औषध खाता, जिससे वमन हो जाती और फिर खाने के लिए पेट खाली हो जाता। पेट खाली होने पर वह फिर खाता और फिर वमन करता। वह एक दिन में ऐसा कई-कई बार किया करता। परिणाम यह हुआ, कि उसे क्षय रोग हो गया और वह जल्दी मर गया।

रोम के इस बादशाह की बात तो इस कारण प्रसिद्धि में आई कि वह बादशाह था तथा खाने के लिए औषध की सहायता से वमन किया करता था, लेकिन इसी तरह केवल स्वाद के लिए

खाने वाले लोग अजीर्णादि के कारण प्रति वर्ष न मालूम कितने मर जाते हैं, किन्तु उनकी बात प्रसिद्धि में नहीं आती। इस तरह स्वाद के लिए खाना हानिप्रद है, फिर भी बहुत से लोगों ने, अधिक मात्रा में अनेक प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ खाना गौरवास्पद मान रखा है। साधारण जनता भी यही मानती है, कि जो अनेक प्रकार के सुस्वाद भोजन करता है, वही प्रतिष्ठित और सद्भागी है। ऐसा मानने के कारण जनता उस व्यक्ति की निन्दा भी करने लगती है, जो धनवान होकर भी सादगी से जीवन बिताता है और स्वादिष्ट पदार्थ नहीं खाता है। परन्तु वास्तव में वह व्यक्ति निन्दा के योग्य नहीं किन्तु प्रशन्सा के योग्य ही है, जो धनवान होकर भी केवल शरीर-रक्षा के लिए ही भोजन करता है, स्वाद के लिए भोजन नहीं करता। उपासकदशाङ्ग सूत्र में जिन आनन्द आदि दस श्रावकों का वर्णन है, वे श्रावक करोड़ों की सम्पत्ति वाले थे, फिर भी उनने उपभोग परिभोग परिमाण व्रत लेते समय मर्यादा में जीवन निर्वाह की आवश्यक सामग्री के सिवा ऐसी कोई वस्तु न रखी थी, जो स्वाद या विलासिता के लिए हो।

बहुत से लोगों ने जिस तरह भोजन में सुख मान रखा है, उसी तरह वस्त्र में भी सुख मान रखा है। उनकी दृष्टि में, वस्त्र शीत ताप से बचने के लिए नहीं पहने जाते, किन्तु शृंगार के के लिए पहने जाते हैं और इस कारण अधिक एवं मूल्यवान वस्त्र

पहनना और वस्त्रों का अधिक परिवर्तन करना बड़प्पन माना जाता है। इस तरह की धारणा बन जाने से लोग शरीर पर इतने अधिक वस्त्र लाद लेते हैं, कि जो शरीर के लिए बोझ रूप होने के साथ ही स्वास्थ्य नष्ट करते हैं और व्यय बढ़ाने वाले भी होते हैं। साथ ही अपने अधिकार में इतने अधिक वस्त्र संग्रह कर रखते हैं, कि जो पड़े ही पड़े खराब हो जाते हैं, सड़ जाते हैं, या कीड़ों द्वारा खा डाले जाते हैं। इस प्रकार एक ओर तो बहुत से वस्त्र पड़े पड़े नष्ट होते हैं और दूसरी ओर अनेक लोग, शीत ताप से बचने के लिए वस्त्र न मिलने से दुःख पाते तथा मरते हैं।

इस ऊष्ण प्रदेश भारत में अधिक वस्त्र पहनना कदापि आवश्यक या लाभप्रद नहीं है। इस देश में तो केवल लज्जा की रक्षा के लिए अथवा शीतकाल में शीत से बचने के लिए वस्त्र पहनने की आवश्यकता है, लेकिन अधिकान्श लोग आवश्यक वस्त्रों के सिवा और भी बहुत से वस्त्र, केवल अपना बड़प्पन दिखाने के लिए अथवा शीत-देशवासी लोगों का अनुकरण करने के लिये शरीर पर लादे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर को पूरी तरह हवा नहीं लगती, इस कारण शरीर का पसीना रोम कूपों में जम कर सूख जाता है जिससे वायु का संचार रुक जाता है, अथवा वह पसीना वस्त्रों में प्रविष्ट हो कर सूख जाता है, और शरीर के आस पास गन्दगी पैदा कर देता है। इस

प्रकार अधिक वस्त्र पहनना, स्वास्थ्य--विघातक होने के साथ ही, शरीर की त्वचा में शीत ताप या पवन का आघात सहन करने की जो शक्ति है, उस शक्ति का भी विनाशक है और शरीर को दुर्बल रुग्ण एवं अल्पायुषी बनाने वाला है।

लोगों ने वस्त्र पहनना किसी दुःख से बचने के लिए नहीं, किन्तु शृंगार अथवा वर्त्तमान कालीन सभ्यता का पालन करने के लिए मान रखा है। इस कथन का एक और प्रमाण यह है कि लोगों का मूल्यवान कलापूर्ण एवं महीन वस्त्र पहनना। यदि शीतादि से बचने और लज्जा की रक्षा के लिए ही वस्त्र पहनना माना जाता, तो फिर चित्र विचित्र रंगवाले, अधिक मूल्यवान कलापूर्ण या महीन वस्त्र पहनने की कोई आवश्यकता न होती, किन्तु ऐसे ही वस्त्र पहने जाते, जिनके द्वारा शीत ताप से बचा जा सके, लज्जा की रक्षा हो सके, जो सर्व साधारण को प्राप्त होने योग्य सादे हों और जिनके निर्माण में महा पाप न हुआ हो। इसी प्रकार जो बालक लज्जा को जानते ही नहीं हैं, उनको वस्त्रों से जकड़ कर उनके शारीरिक विकास को भी न रोका जाता। बच्चों को वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हुए कवि सम्राट रविन्द्रनाथ ठाकुर ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है, कि बच्चों के शरीर पर सिले हुए वस्त्र पहनाना, बच्चों के शारीरिक विकास को रोकना और एक प्रकार से

उनकी हत्या करना है। स्वयं बच्चे भी सिले हुए वस्त्र पहनना पसन्द नहीं करते। बल्कि जब उन्हें वस्त्र पहनाया जाने लगता है, तब वे रोकर वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हैं, लेकिन यदि भारतियों द्वारा किया गया कोई विरोध अंग्रेज सुनते हों, तो बालक द्वारा किया गया वस्त्र पहनाने का विरोध माता पिता भी सुनें। अर्थात् जिस तरह अंग्रेज लोग भारतियों पर जबरदस्तो करते हैं, उसी तरह माता—पिता बालकों पर जबरदस्ती करते हैं।

मतलब यह कि भोजन और वस्त्र में सादगी का न होना, प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। जो सादगी से जितना दूर रहता है और फेशन को जितना अपनाता है, वह दूसरे लोगों को उतना ही अधिक दुःख में डालता है। भारत के लोगों की दैनिक आय औसतन डेढ़ या पौने दो आने है। इसलिए जो व्यक्ति जितना अधिक खर्च करता है, वह उतने ही अधिक लोगों को भोजन वस्त्र से वंचित रखता है। जैसे, नव भारतीयों को दैनिक एक रुपया मिलता है। यानी नव आदमियों के हिस्से में एक रुपया आया है। वह एक रुपया ही उन नव-आदमियों के जीवन-निर्वाह का साधन है, लेकिन यदि उन में का कोई एक आदमी बुद्धि बल, शारीरिक बल या द्रव्य बल से उस एक रुपये को आप अकेला ही हड़प लेता है, आप अकेला ही एक दिन में एक रुपया खर्च कर देता है, तो शेष आठ आदमी भूखे रहें यह स्वाभाविक ही है। इस प्रकार जो

भोजन वस्त्र या फेशन शौक के लिए अधिक व्यय करता है, वह दूसरे कई लोगों को भूखों मारने का पाप कमाता है। अपने ऐसे व्यवहार के कारण दूसरे को भूखों मारना, उस दूसरे की हत्या करना ही है। ऐसा करके उन लोगों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न करना है, कि जो लोग भोजन, वस्त्र आदि के बिना कष्ट पाते हैं। कभी-कभी तो भोजन वस्त्र न मिलने के कारण दुःखी लोगों का असन्तोष इतना बढ़ जाता है, उनके हृदय में प्रतिहिंसा की ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है, कि जिससे वे असन्तुष्ट और दुःखी लोग उन लोगों का धन जन नष्ट कर डालते हैं, कि जो लोग अपने रहन सहन में अधिक खर्च करते हैं तथा अन्न वस्त्र के बिना दुःखी लोगों की ओर ध्यान तक नहीं देते। रूस का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है।

लोगों ने जिस तरह भोजन और वस्त्र के अधिक उपभोग में आनन्द एवं गौरव मान रखा है, उसी तरह आभूषण पहनने में भी सुख तथा गौरव मान रखा है। परन्तु विचार करने पर मालूम होगा, कि आभूषण—और ऐसी ही दूसरी चीजें—जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं, किन्तु हानिप्रद हैं। जिन आभूषणों में सुख और शृंगार की वस्तु मान कर पहना जाता है, क्या उनके कारण कभी जीवन नहीं खोना पड़ता ? क्या उनकी रक्षा के लिए चिन्तित नहीं रहना पड़ता ? और क्या वे शरीर के लिए भार रूप नहीं हैं ?

इसी प्रकार जिन नशीली चीजों को आनन्द के लिए सेवन किया जाता है, क्या वे चीजें स्वास्थ्य नष्ट नहीं करतीं ? क्या साबुन, क्रीम आदि वस्तुएँ त्वचा में रही हुई प्राकृतिक क्षमता नष्ट करके त्वचा को कमजोर नहीं बनातीं ? वास्तव में ऐसी सभी चीजें हानि करने वाली हैं, और इनके उपयोग में किसी प्रकार का सुख भी नहीं है, बल्कि जीवन को दुःखी बनानेवाली हैं, फिर भी लोग ऐसी चीजों में आनन्द मानते हैं और जब वे चीजें प्राप्त नहीं होतीं, तब मनस्ताप करते हैं तथा अपने जीवन का अधिकांश भाग ऐसी चीजों की प्राप्ति के प्रयत्न में ही लगा देते हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं के बढ़जाने पर जीवन अशान्त रहता है और सदा हाय-हाय ही बनी रहती है।

सारांश यह कि जिन वस्तुओं का उपयोग किये बिना साधारण-तया जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता, उन चीजों को मर्यादा में रख कर—उनका परिमाण करके—शेष चीजों के उपभोग परिभोग का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से-अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित कर लेने से-जीवन बहुत शान्ति से व्यतीत होता है। जीवन में उपभोग्य परिभोग्य पदार्थ सम्बन्धी अशान्ति नहीं रहती। इसके सिवा, 'जो अपना खर्च कम रखता है उसे कमाना भी कम पड़ता है और जो अधिक खर्च रखता है उसे कमाना भी अधिक पड़ता है' इस लोकोक्ति के अनुसार अपना रहन सहन, और खान-पान सादा न रखने पर खर्चीले रहन-सहन एवं खानपान के लिए

अधिक कमाना पड़ेगा, जिससे जीवन में अशान्ति रहना स्वाभा
है। जिसका जीवन खाने-पीने तथा पहनने ओढ़ने आदि के लि
कमाने में ही लगा रहता है, उसके द्वारा धर्म कार्य कब होंगे! ऐ
व्यक्ति का चित्त आवश्यकता पूर्त्ति की चिन्ता से अस्थिर रहता है
और जिनका चित्त ही अस्थिर है, उसके द्वारा आत्म-कल्याण और
परोपकार के कार्य कैसे हो सकते हैं।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने से—यानी अपनी
आवश्यकताएँ मर्यादित बना लेने से जीवन भी बहुत शान्ति से
व्यतीत होता है और मूलव्रतों का विकास भी होता है। यह व्रत
स्वीकार करनेवाले का जीवन सादा हो जाता है, जिससे मूलव्रत
देदीप्यमान होते हैं, जनता में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है और
लोगों की दृष्टि में वह विश्वासपात्र माना जाता है।

मूलव्रत स्वीकार करते समय श्रावक कुछ अव्रत तो दो कर
तीन योग से त्यागता है, तथा कुछ कम से। यानी एक करण तीन
योग से अथवा एक करण एक योग से भी। इस कारण व्रत में जो
कुछ छूट रह जाती है—यानी जो अव्रत शेष रह जाता है—वह दिक्-
व्रत धारण करने पर क्षेत्र से और उपभोग परिभोग परिमाणव्रत
धारण करने पर द्रव्य से संकुचित हो जाता है। अर्थात् शेष रहे
हुए अव्रत सीमित हो जाते हैं, और मूलव्रत प्रशस्त हो जाते हैं।
दिक्व्रत और उपभोग परिभोग परिमाणव्रत, मूलव्रतों में गुण उत्पन्न

करके उन्हें देदीप्यमान बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक आदमी आम्रफल खाता है और दूसरा आदमी आम्रफल खाने का त्यागी है। इन दोनों में से जिसने आम्रफल खाना त्याग दिया है, उसको यह विचारने की आवश्यकता ही न रहेगी, कि इस वर्ष आम की फसल कैसी है, आम क्या भाव है, अथवा बाजार में आम आते हैं या नहीं! इस प्रकार वह आम विषयक विचारों एवं संकल्प-विकल्प आदि के पाप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो आम्रफल खाता है, उसको आम सम्बन्धी अनेक विचार होंगे, वह आम सम्बन्धी चिन्ताओं की परम्परा से घिरा रहेगा और पाप का भागी बनता रहेगा। उपभोग–परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने व न करनेवाले में प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में ऐसा ही अन्तर रहता है। जो उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार कर लेता है, उसका आत्मा चिन्ताओं एवं पाप से बहुत कुछ मुक्त रहता है, और उसे शान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने पर मूलव्रतों में गुण उत्पन्न होता है, तथा उनमें प्रशस्तता आती है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के अतिचार

पहले बता चुके हैं, कि उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत दो प्रकार का है। यथा—

उपभोग परिभोग परिमाण वए दुविहे
पन्नत्ते तंजहा भोयणाओय कम्मओय।

अर्थात्:—उपभोग परिभोग परिमाणव्रत दो प्रकार का है, भोजन से और कर्म से।

इन दो प्रकार के उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में से भोजन सम्बन्धी व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं, † जो जानने योग्य हैं, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। श्रावक को इन अतिचारों से बचते रहना चाहिए, अन्यथा व्रत में मलिनता आयेगी। श्रावक लोग इन अतिचारों से बचे रह सकें, इसीलिए इनका स्वरूप बताया जाता है।

† उपभोग-परिभोग के सभी पदार्थ भोजन में गर्भित समझ लेना। यहां भोजन मुख्य और अन्य को गौण किया है—सम्पादक।

भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचारों में से पहला अतिचार सचित्ता-हारे है। सचित्ताहारे का अर्थ है सचित्त पदार्थ का आहार। जिस खान पान की चीज में जीव विद्यमान मौजूद है, च्यवे नहीं उसको सचित कहते हैं। जैसे धान, बीज, पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि। ऐसी चीजें जो सचित हैं, मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीका-कार कहते हैं—

कृत सचित्ताहार प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽना भोगादि प्रत्याख्यानं सचेतनं भक्षयतस्तद्धा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्तमानस्य।

अर्थात्:—जिस सचित आहार का त्याग किया है, अथवा जिसके सम्बन्ध में कोई मर्यादा विशेष की है, भूल से उस पदार्थ को खाना यह सचित्ताहारे अतिचार है। ❀

❀ अतिचार का मूल पाठ है 'सचित्ताहारे'। इस पाठ पर से व श्री हरि-भद्र आवश्यक टीकानुसार यह मतलब भी निकलता है, कि श्रावक को यथा सम्भव ऐसा खान पानादि रखना चाहिए और ऐसी चीजें काम में लेनी चाहिएँ, जो साधुओं के उपयोग में भी आ सकें। क्योंकि श्रावक, श्रमणोपासक है। श्रावक, श्रमण की सेवा उपासना तभी कर सकता है जब उसके पास श्रमण की सेवा उपासना के योग्य आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शैया, संथारा, औषध और घर (मकान) आदि हों। श्रावक के पास ये वस्तुएँ तभी प्रासुक और निर्दोष मिल सकती हैं, जब वह स्वयं ऐसी वस्तुओं का उपयोग करता हो। जो श्रावक ऐसा आहार पानी या

दूसरा अतिचार सचित्त पड़िबद्धाहारे है। वस्तु तो अचित है, परन्तु उस अचित वस्तु को सचित वस्तु से सम्बन्धित रखकर खाना यह सचित प्रतिबद्ध आहार है। जैसे हरे पत्तों के दोने में दूध मिठाई आदि है। दूध या मिठाई तो अचित है, लेकिन हरा

वस्त्र पात्र आदि काम में नहीं लेता है, किन्तु ऐसी चीजें काम में लेता है जो मुनि के काम में नहीं आती, वह श्रावक साधुओं को उनके योग्य चीजें कहाँ से दे सकता है और साधुओं को प्रतिलाभित करके उनकी सेवा भक्ति कैसे कर सकता है! उदाहरण के लिए, कोई श्रावक कच्चा पानी पीता है, सचित भोजन करता है, वस्त्र भी रंगीन पहनता है, औषधादि भी सचित खाता या रखता है, मकान भी पौषधशाला के रूप में अलग नहीं रखता है, सोने बैठने के लिए बेंत, निवार या रस्सी से बुने हुए बड़े-बड़े पलंग कुर्सी आदि रखता है और पात्र भी धातु के ही रखता है, तब वह साधुओं को ऐसी चीजें कहाँ से देगा, जो साधुओं के लिए उपयोगी हो! फिर तो साधुओं के लिए ऐसी चीजों की उसे पृथक् व्यवस्था करनी पड़ेगी, लेकिन ऐसा करने पर क्या साधु लोग उन चीजों को ले सकते हैं, जो उन्हीं के लिये लाई या तैयार की गई हो! साधु लोग वही चीजें ले सकते हैं, जो प्रासुक एषणिक एवं अचित हो और ऐसी चीजें श्रावकों के यहाँ से तभी मिल सकती हैं, जब श्रावक स्वयं भी ऐसी ही चीजें काम में लेते हों। इसलिए श्रावक को उपभोग परिभोग परिमाण व्रत की मर्यादा में ऐसी ही चीज़ें रखने का प्रयत्न करना चाहिए जो साधु मुनिराज के उपयोग में आ सकती हों। साधु लोग श्रावकों से कायिक सेवा तो ले नहीं सकते, इसलिए श्रमणोपासक होने के नाते श्रावक साधुओं की वही सेवा कर सकते हैं, जो साधुओं के संयम में सहायक हो, अन्य क्या सेवा करें। इसलिए श्रावकों को यथा सम्भव

दोना सचित्त है, इसलिए इस तरह का खाना अतिचार है। खाता तो है आम्रफल का निकाला हुआ रस, जो अचित्त है, लेकिन उसके साथ सचित गुठली भी है, तो ऐसा रस खाना सचित्त प्रतिबद्धाहार अतिचार है।

तीसरा अतिचार 'अप्पउलि 'ओसहि' भक्खणया' अतिचार है। जो वस्तु पूर्ण पक्क नहीं है, यानी जो पूरी तरह पकी हुई नहीं है और जिसे कच्ची भी नहीं कह सकते ऐसी अर्द्ध-पक्व चीज खाना तीसरा अतिचार है। यद्यपि ऐसी चीज सचित नहीं है, फिर भी अर्द्ध पकी होने के कारण मिश्र मानी जाती है, और ऐसी चीज शंकास्पद तथा हानि करनेवाली होती है, इसलिए ऐसी चीज का खाना अतिचार है।

कई वस्तुएँ या तो पूरी तरह पक जाने पर ही हानि न करने वाली होती हैं, या पूरी तरह कच्ची रहने पर ही। जो वस्तु न तो

अपना भी रहन सहन साधु मुनिराज की तरह का सादा रखना चाहिए। आज साधु महात्मा को श्रावकों के यहाँ से निर्दोष वस्त्र, पात्र, औषध, भेशज आदि न मिलने के कारण उन्हें पसारी, अत्तार या वस्त्र विक्रेता की दूकानें देखनी पड़ती हैं, जहां संघटादि कई टंटे लगते हैं। इसका कारण श्रावकों का अविवेक ही है। वैसे तो श्रावकों के यहाँ सैकड़ों रुपये की लागत के कपड़े अल्मारियों में भरे रहते हैं, परन्तु साधु के कल्प योग्य वस्त्र उन अल्मारियों में शायद ही मिलेगा। इसलिए श्रावक को 'श्रमणोपासक' शब्द सार्थक करने और बारहवाँ व्रत निपजाने के लिए अपना स्वयं का आचरण सुधारने की बहुत आवश्यकता है।

पूरी तरह पकी हुई है, न पूरी तरह कची है, वह वस्तु शरीर के लिए भी हानि करने वाली होती है। इसलिए भी ऐसी चीजें न खानी चाहिएँ।

चौथा अतिचार दुप्पोलि ओसहि भक्खणया है। जो वस्तु पकी हुई तो है, परन्तु बहुत अधिक पक गई है और पक कर बिगड़ गई है, अथवा जिसको बुरी तरह से पकायी गई है, जिसे पकाने की रीति घृणित है, वैसी वस्तु का खाना दुप्पोलि ओसहि भक्खणया अतिचार है। श्रावक को ऐसी वस्तु न खानी चाहिए।

पांचवाँ अतिचार तुच्छोसहि भक्खणया है। यहाँ तुच्छोषध से मतलब ऐसी चीज से है, जिसमें क्षुधा निवारक भाग कम है और व्यर्थ का भाग अधिक है। श्रावक को ऐसी चीज नहीं खानी चाहिए। जैसे मूँग की कची फली, जिसमें पौष्टिक तत्त्व बहुत कम होता है और जिसका अधिक खाना भी क्षुधा निवारण के लिए पर्याप्त नहीं होता। ऐसी चीजों का खाना श्रावक के लिए अतिचार रूप है।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी विभाग के अतिचारों का यह स्वरूप है। श्रावक को ऊपर बताये गये इन पाँच अतिचारों से सदा बचते रहना चाहिए। अब इस व्रत के दूसरे (कर्म) विभाग के सम्बन्ध में कहा जाता है।

यहाँ कर्म का मतलब आजीविका है। आजीविका का प्रभाव

उपभोग परिभोग पर और उपभोग परिभोग का प्रभाव आजीविका पर पड़ता ही है। उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आजीविका करनी ही पड़ती है। यानी कोई धन्दा रोजगार करना ही पड़ता है। जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई होती हैं, उसको धन्धे द्वारा अधिक आय करनी पड़ती है, और जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं, उसे कम आय करनी पड़ती है, परन्तु गृहस्थ श्रावक को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कोई धन्धा तो करना ही पड़ता है। हाँ यह बात अवश्य है, कि जिसने अपनी आवश्यकताएँ मर्यादित कर दी हैं, वह थोड़ी आय से ही सन्तुष्ट रहता है तथा ऐसी रीति से आजीविका करता है जिसमें पाप का भाग कम और धर्म का भाग अधिक हो। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं, उसको बहुत आय होने पर भी सन्तोष नहीं होता, तथा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी रीति से भी आजीविका करता है, जिसमें पाप का भाग अधिक हो और जो निषिद्ध हो।

शास्त्र में, श्रावकों के लिए पन्द्रह कार्यों द्वारा आजीविकोपार्जन का निषेध किया गया है। वे पन्द्रह कार्य, पन्द्रह कर्मादान के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रावक, धर्मपूर्वक ही आजीविका कर सकता है। इस कथन का अर्थ यह नहीं है, कि गृहस्थ-श्रावक भीख माँग कर खावे? किन्तु जिस कार्य में महापाप नहीं है, वह कार्य करके आजीविका

चलाना, धर्म की ही आजीविका कहलाती है। यद्यपि आजीविका
के लिए किये जानेवाले व्यवसाय में पाप का भाग भी होता है,
लेकिन किसी व्यवसाय में पाप का भाग अल्प होता है और किसी
में ज्यादा। जिसमें पाप का भाग ज्यादा है उस व्यवसाय द्वारा
आजीविका करना पाप की आजीविका है और जिसमें पाप का भाग
अल्प होता है, उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना धर्म की
आजीविका कहलाती है। यद्यपि गृहस्थ श्रावक के लिए जो धर्म की
आजीविका कहलाती है, उसमें पाप का कुछ भाग होने पर भी वह
आजीविका उसी प्रकार पाप की आजीविका नहीं कही जाती किन्तु
धर्म की आजीविका कही जाती है, जिस प्रकार चन्द्र में थोड़ीसी
कालिमा देखने में आती है, फिर भी चन्द्र को काले रंग का नहीं माना
जाता है, न यह कहा ही जाता है कि चन्द्रमा काला है। इसी प्रकार
जिन कार्यों में पाप का अंश कम है, वे कार्य भी पाप पूर्ण नहीं
माने जाते, किन्तु दृष्टिसम होने से धर्मपूर्ण माने जाते हैं। जहाँ
श्रावक के आरम्भादि का वर्णन किया जावेगा, वहाँ तो यही कहा
जावेगा कि श्रावक आरम्भ समारम्भ करते हैं, लेकिन एकन्दर में
श्रावक की गणना धार्मिक में ही होगी। क्योंकि उसने महापाप
त्याग दिया है। किसी पर एक लाख रुपये का ऋण हो, उस समय
तो वह ऋणी माना जावेगा, लेकिन जिस पर एक लाख रुपये का
ऋण था और जिसने उसमें से ९९९९९ रुपया चुका दिया है,

उसको अऋणी कहा जाने में किसी प्रकार आपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि अभी उसे एक रुपया ऋण चुकाना शेष है, लेकिन एक लाख रुपयों को दृष्टि में रखते हुए एक रुपया कुछ भी नहीं है। उस पर जो एक रुपये का ऋण शेष है, वह नहीं के बराबर माना जावेगा और उसकी गणना अऋणी में होगी। इसी प्रकार श्रावक में पाप तो शेष है परन्तु अल्प पाप है और उसने महापाप त्याग दिया है, इसलिए उसकी गणना धार्मिक में ही होगी। इसीलिए शास्त्र में श्रावकों का वर्णन करते हुए उन्हें ये विशेषण दिये गये हैं—

अप्पारम्भा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया,
धम्माणुया, धम्मिटा, धम्मक्खाई
धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेणचेव,
वितिकप्पेमाणा विहरंति ।

श्रावक के लिए जिन पन्द्रह कर्मादान का निषेध किया गया है, वे पन्द्रह कर्मादान महापाप पूर्ण होते हैं। इसीलिए श्रावक के वास्ते पन्द्रह कर्मादान निषिद्ध हैं। कर्मादान शब्द 'कर्म' और 'आदान' इन दो शब्दों के संयोग से बना है, जिसका वाक्य है—

कर्मणां उत्कट ज्ञानावरणीयादिनां
पाप प्रकृतिनां आदानानीति कर्मादान ।

यानी गाढ़ कर्मों को ग्रहण करने के कारण भूत महापापपूर्ण होने से, पन्द्रह कार्यों को कर्मादान कहा गया है। गाढ़ कर्म (पाप) को ग्रहण करने के कारण भूत पन्द्रह कर्मादान इस प्रकार कहे जाते हैं—१ इङ्गाल कम्मे, २ वण कम्मे, ३ साड़ी कम्मे, ४ भाड़ी कम्मे, ५ फोड़ी कम्मे, ६ दन्त वणिज्जे, ७ लख वणिज्जे, ८ रस वणिज्जे, ९ विस वणिज्जे, १० केस वणिज्जे, ११ जन्त पीळण कम्मे, १२ निलंछण कम्मे, १३ दवग्गीदावणिया कम्मे, १४ सरदहदलाय शोषणया कम्मे, १५ असइजण पोसणया कम्मे।

ये पन्द्रह कर्मादान महान् कर्म बन्ध के हेतु हैं। इनमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं, जो लौकिक में भी निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है। साथ ही ये कर्मादान परलोक भी बिगाड़ने वाले हैं। नीचे इन पन्द्रह कर्मादानों पर भिन्न-भिन्न प्रकाश डाला जाता है।

१ इङ्गाल कम्मे, यानी अङ्गार कर्म। अंगार कर्म से मतलब है, कोयले बना कर बेंचना और इस प्रकार जीविका चलाना। इस कार्य में छः काय के जीवों की बहुत विराधना होती है और लाभ कम होता है। कोयले के लिए बड़े-बड़े हरे वृक्ष काट डाले जाते हैं, जिससे बन का प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट होता है। इसके सिवा जो वृक्ष काट डाले जाते हैं, वे यदि न काटे जावें तो उनके

द्वारा मिलने वाला स्वास्थ्य-वर्द्धक पवन भी मिले और सूखने पर लकड़ी भी मिले। आज कल बड़े-बड़े वृक्षों को तो काट डाला जाता है, और घर पर कूँडों में वृक्ष के दो चार पौधे लगा कर उनसे ऑक्सिजन (स्वास्थ्य वर्द्धक पवन) की आशा की जाती है। लेकिन ऐसे कूँडों से कितना ऑक्सिजन मिल सकता है ! इसके सिवा ऐसे कूँडों से संसार के सभी लोगों का काम नहीं चल सकता। संसार के लोगों का काम वन के वृक्षों से ही चलता है। वृक्ष, खराब हवा अपने में से खींच कर, उसके बदले अच्छी हवा छोड़ते हैं, जिससे संसार के लोग जीवित रहते हैं। ऐसे उपकारी वृक्षों को कोयले के लिए काट डालना महान् पाप है।

२ वणकम्मे, यानी वन कर्म। जंगल से लकड़ी बांस आदि काट काट कर बेंचने का नाम वन कर्म है। इस कार्य से तत्काल और परम्परा पर बहुत हानि होती है। वन में रहने वाले कई पंचेन्द्रियादि त्रस जीवों का नाश होता है तथा वन का प्राकृतिक सौन्दर्य भी नष्ट होता है। वन द्वारा पशु-पक्षियों को जो आधार मिलता है, वह आधार छूट जाता है। ऐसा अनर्थकारी व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है।

कई लोग जंगल का ठेका ले लेते हैं और जंगल के वृक्ष काट कर तथा बेंच कर आजीविका करते हैं। इस व्यवसाय की गणना 'वन कम्मे' में ही है। श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

३ साड़ी कम्मे, यानी साटिक कर्म। बैल-गाड़ी या घोड़ा-गाड़ी आदि द्वारा भाड़ा कमाना, अथवा शकट यानी गाड़ा गाड़ी आदि वाहन बनवा बनवा कर बेंचना या किराये पर देना साड़ी कम्मे है। इस कार्य से परम्परा पर पंचेन्द्रिय जीवों को महान् त्रास होता है, जो महापाप का कारण है। अतः श्रावक को ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका न करनी चाहिए।

४ भाड़ी कम्मे, यानी भाड़ी कर्म। जिस तरह इंगाल कर्म और वन कर्म का परस्पर सम्बन्ध है, उसी तरह साड़ी कर्म और भाड़ी कर्म का भी आपस में सम्बन्ध है। साड़ी कर्म में गाड़ा गाड़ी आदि वाहन मुख्य हैं, और भाड़ी कर्म में पशु यानी घोड़े ऊँट, भैंसे, गधे, खच्चर, बैल आदि मुख्य हैं। इस तरह के पशुओं को भाड़े पर देकर उस भाड़े से आजीविका चलाना भाड़ी कर्म द्वारा आजीविका चलाना है। श्रावक, पशुओं द्वारा अपना मर्यादित बोझ तो ढुलवा सकता है, परन्तु बोझ ढोने के लिए दूसरे को पशु भाड़े से देना श्रावक के लिए निषिद्ध है। क्योंकि भाड़े पर लेने वाले लोग, अपने लाभ के सन्मुख पशुओं की दया की उपेक्षा कर डालते हैं।

५ फोड़ी कम्मे, यानी फोड़ी कर्म। हल, कुदाली, सुरंग आदि से पृथ्वी को फोड़ना और उसमें से निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि खनिज पदार्थ को बेंचना 'फोड़ी कर्म' है। अथवा

जमीन खोदने का ठेका लेकर जमीन खोदना और इस प्रकार आजीविका करना फोड़ी कर्म द्वारा आजीविका करना है। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

कई लोग कृषि कर्म को भी फोड़ी कर्म में मानते हैं और कहते हैं, कि खेती करने में हल द्वारा भूमि खोदनी पड़ती है, इसलिए खेती करना भी फोड़ी कर्म है। परन्तु यह कथन गलत है। खेती करना फोड़ी कर्म नहीं है। आजीविकार्थ खनिज पदार्थ निकालने के लिए भूमि खोदना फोड़ी कर्म है, खेती के लिए भूमि खोदना फोड़ी कर्म नहीं है। यदि कृषि कर्म की गणना फोड़ी कर्म में होती, तो आनन्द आदि श्रावक खेती कैसे कर सकते थे। भगवती सूत्र में भगवान का कथन है, कि मेरे श्रावक कर्मादान के त्रिकरण से त्यागी होते हैं, और आनन्द श्रावक का श्रावकपना भगवान ने स्वीकार किया है। ऐसी दशा में यदि कृषि कर्म की गणना फोड़ी कर्म अथवा कर्मादान में होती, तो आनन्द-तथा दूसरे-श्रावक खेती न करते और यदि करते रहे तो उनकी गणना आदर्श श्रावकों में न होती, न भगवान उनका श्रावकपना ही स्वीकार करते। आनन्द श्रावक खेती करता था, यह बात शास्त्र में स्पष्ट है। आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि आनन्द श्रावक ने भूमि से उत्पन्न अन्न आदि ढोने के लिए पाँच सौ गाड़े मर्यादा में रखे। इस विषय में टीकाकार कहते हैं:—

संवाहनं क्षेत्रादिभ्य स्तृण काष्टधान्यादिर्गृहा-
दावानयनं तत्प्रयोजनानि संवाहनिकानि।

इन सब बातों से स्पष्ट है, कि आनन्द श्रावक खेती करता था, अन्यथा खेती से उत्पन्न अन्न ढ़ोने के लिए पाँच सौ गाड़े मर्यादा में क्यों रखता। इस प्रकार यह सिद्ध है, कि कृषिकर्म की गणना फोड़ी कर्म में नहीं है।

ये पाँच कर्म हुए। अब पाँच निषिद्ध वाणिज्य बताये जाते हैं जिनकी गणना पन्द्रह कर्मादान में है।

६ दन्तवणिज्जे, यानी दाँत का व्यापार। हाथी दाँत लाने वाले लोगों से दाँत खरीद कर बेंचना दन्तवाणिज्य है। ऐसे लोगों को यदि दांत लाने का आर्डर दिया जावेगा, उनसे दांत लेने का सौदा किया जावेगा, अथवा उनके लाये हुये दांत खरीदे जावेंगे, तो वे लोग हाथियों को मार कर दांत लावेंगे यह स्वभाविक है। इसलिए श्रावक के लिये ऐसा वाणिज्य त्याज्य है।

दन्तवाणिज्य में उपलक्षण से शंख, हड्डी अथवा ऐसी ही उन दूसरी चीजों के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है जो इसी श्रेणी की होती हैं और त्रस जीवों की हिंसा द्वारा प्राप्त की जाती हैं।

७ लक्खवाणिज्जे, यानी लाख का व्यापार है। लाख, वृक्षों का रस (मद) है। लाख निकालने में त्रस जीवों की बहुत हिंसा

भी होती है, और लाभ भी अधिक नहीं होता। इसलिए श्रावक के लिये ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

८ रस वाणिज्जे, यानी रस का व्यापार है। यहां रस से मतलब मदिरा है। जो पदार्थ मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं, जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि नष्ट होती है, उन पदार्थों की गणना मद यानी मदिरा में है। ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाला मनुष्य अनर्थ कर डालता है। मदिरा के सेवन से कैसे २ अनर्थ होते हैं, यह बताने के लिए कहा गया है कि—

बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं स्वपचामपि ।
भुंक्ते परस्त्रियं सद्यो मद्योन्मादकदार्थितः ॥ १ ॥
विवेकः संयमोज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमाः ।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृणंवह्नि कणादपि ॥ २ ॥

अर्थात्—मदिरा पीकर उन्मत्त बना हुआ मनुष्य, बालिका, युवती, वृद्धा, ब्राह्मणी या भंगिन आदि का विचार भूल कर पर-स्त्री भोगता है। मदिरा पीने वाले का विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया और क्षमा उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार आग पड़ने पर घास का पूँज जल जाता है।

इन बातों को दृष्टि में रख कर ही श्रावक के लिये रसवाणिज्य त्याज्य बताया गया है।

शकर, गुड़, घृत, तेल, दूध, दही आदि के व्यापार को रस वाणिज्य में बताना असंगत है। रसवाणिज्य किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि:—

रसवाणिज्य सुरादि विक्रयः ।

इसमें सुरा (मदिरा) तथा ऐसी ही दूसरी चीजों के बेंचने को रस वाणिज्य में बताया गया है, दूध, दही आदि बेंचने को नहीं। गुड़, घृत, दूध, दही आदि पदार्थ मनुष्य के लिए हितकारी हैं और जीवन को पुष्टि देने वाले हैं। इसलिए इनका व्यवसाय इस कोटि का निन्द्य अथवा त्याज्य नहीं है।

९ विसवाणिज्जे, यानी विष का व्यापार है। अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों की गणना विष में है। जिनके खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है, ऐसे विषैले पदार्थों का व्यवसाय हानिप्रद है, इसलिए श्रावक ये व्यवसाय न करें। लौकिक में भी ऐसे विष पदार्थ के क्रय विक्रय पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, और यदि कोई व्यक्ति विष खाकर मर जाता है अथवा किसी दूसरे को मार डालता है, तो जिसके यहां से वह विष खरीदा गया है वह व्यापारी भी न्यूनाधिक अंश में अपराधी माना जाता है।

१० केसवाणिज्जे, यानि केश–व्यापार है। यहाँ केश

वाणिज्य से मतलब सुन्दर केश वाली दासियों का क्रय विक्रय करना है। पूर्व समय में अच्छे केश वाली स्त्रियों का क्रय विक्रय होता था, और ऐसी स्त्रियाँ दासी बना कर भारत से बाहर युनान आदि देशों में भी भेजी जाती थीं। प्राचीन काल में दासियों का क्रय विक्रय राज्य का अपराध नहीं माना जाता था इससे भारत में भी दासियों का व्यापार होता था। इसका प्रमाण है, कौशाम्बी में सती चन्दन बाला का और काशी में महारानी तारा का क्रय विक्रय होना। यह व्यवसाय निन्द्य है, इसलिए श्रावक इस तरह के व्यवसाय द्वारा आजीविका न करे।

आज कल के लोगों ने सरकारी कायदे से विवश होकर दास दासी का क्रय विक्रय चाहे त्याग दिया हो, लेकिन जहाँ तक सुना जाता है, आज कल दास दासी के क्रय विक्रय का स्थान वर कन्या के क्रय विक्रय ने ले लिया है। इस मानव विक्रय की प्रथा के कारण स्वरूप हैं धनिक लोग। कन्या के बदले में या वर के बदले में द्रव्य वे ही लोग देते हैं अथवा दे सकते हैं, जिनके पास द्रव्य है। धनिकों को जब तीसरी चौथी पत्नी बनाने के लिये किसी की कन्या की आवश्यकता होती है, तब वे रुपये के बल से किसी गरीब की कन्या खरीदते हैं। पहले या दूसरे विवाह के समय तो धनिक लोग गरीबों से घृणा करते हैं, उनकी लड़की लेने की बातचीत करना भी अपमान की बात समझते हैं और धनवान

की लड़की लेना ही पसन्द करते हैं, लेकिन दूसरे तीसरे या चौथे विवाह के समय जब कि आयु अधिक हो जाने के कारण कोई धनिक अपनी कन्या नहीं देता है तब गरीब से जातीय समता का सम्बन्ध बता कर और उन्हें प्रलोभन में डाल कर यानी रुपये देकर उनकी कन्या ले लेते हैं। यही बात वर विक्रय की है। धनिक लोग, अपने लड़के को एक प्रकार से नीलाम पर चढ़ा देते हैं और जो अधिक धन देना स्वीकार करता है, उसी की कन्या से अपने लड़के का विवाह करते हैं। धनिकों के इस वर कन्या के क्रय विक्रय से समाज में बहुत ही विषमता उत्पन्न हो गई है, जो दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। ऐसे व्यवहार के कारण समाज में एक ओर तो बहुत से गरीब, लड़की न मिलने के कारण अविवाहित रह जाते हैं और दूसरी ओर विधवाओं की संख्या बढ़ जाती है। यदि समाज के लोग मिल कर इसके लिए कोई नियम बनावें, तो यह मानव विक्रय की प्रथा भी नष्ट हो सकती है और इस प्रथा के कारण होने वाला अनिष्ट भी रुक सकता है। भगवान ने जब दास दासी का क्रय विक्रय भी त्याज्य बताया है और राजकीय व्यवस्था से भी दास दासी का क्रय विक्रय निषिद्ध है, तब वर कन्या का बेंचना उचित कैसे हो सकता है! यह बात तो बहुत लोगों के अनुभव की ही होगी, कि जिस कन्या के बदले में रुपया ले लिया जाता है, उस कन्या

रुपया देने वाले की दृष्टि में एक गृहिणी या कुल वधु की सी प्रतिष्ठा नहीं रहती, किन्तु उसको ठीक मोल ली हुई दासी की तरह ही माना जाता है। इसलिए श्रावक को इस तरह का व्यवसाय कदापि न करना चाहिए। ❀

कई लोग केसवणिज्जे में ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यवसाय भी बताते हैं, लेकिन ऊन या ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को केशवाणिज्य में बताना असंगत है। टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि केशवाणिज्य किसे कहते हैं।

ये पाँच प्रकार के व्यापार निषिद्ध हैं। अब आगे पाँच प्रकार के और निषिद्ध कर्म बताये जाते हैं।

११ जंत पीलणिया कम्मे, यानी यन्त्र द्वारा पीलने का कर्म। कोल्हू द्वारा तिल या गन्ना आदि का तेल या रस निकालने का धन्धा करना जंत पीलणिया कम्मे कहा जाता है। श्रावक को इस धन्धे द्वारा आजीविका न करनी चाहिए। क्योंकि इस धन्धे में अनेक त्रस जीवों की हिंसा का सम्भव है।

❀ आजकल अनेक लोग वर-कन्या क्रय विक्रय की दलाली करते हैं, तथा ऐसा कार्य करते हुए भी स्वयं को जैन धर्माभिमानी कहते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा व्यक्ति जैन धर्म को बदनाम करने वाला है। जो वस्तुतः जैन धर्माभिमानी है, वह ऐसे निन्द्य कार्य द्वारा कदापि आजीविका नहीं कर सकता।

जन्त पीलणिया कम्मे का रूप बताते हुए टीकाकार ने तेल या रस निकालने के लिये कोल्हू चला कर आजीविका करना ही बताया है। इससे स्पष्ट है, कि उस समय भारत में यन्त्र के नाम पर केवल गन्ना या तिल पीलने के देशी कोल्हुओं का ही प्रचलन था, और कोई यन्त्र अस्तित्व में न थे। अन्यथा टीकाकार उनका भी उल्लेख करते ही। पूर्व समय में जब कि भारत आधुनिक यन्त्रवाद से बचा हुआ था, तब यह देश बहुत सम्पन्न था और लोगों का जीवन शान्ति पूर्वक व्यतीत होता था। उस समय भारत का धन भी विदेशों को नहीं जाता था, तथा श्रमजीवी लोगों के लिए श्रम करने का क्षेत्र भी विस्तृत रहता था। इस कारण किसी को भूखों भी न मरना पड़ता था, और लोगों का जीवन भी स्वावलम्बी था। लेकिन जब से भारत में यन्त्रवाद का प्रचार हुआ है, तब से कुछ थोड़े से लोग तो अवश्य धनवान बने होंगे, लेकिन साधारण लोग आजीविका हीन निरुद्यमी और परावलम्बी हो गये हैं। संसार में नङ्गों भूखों की संख्या यन्त्रवाद ने ही बढ़ाई है। इस प्रकार यन्त्र-वाद के आधिक्य से भारत का धन विदेशों में जा रहा है, और भारत दिन प्रतिदिन कंगाल तथा पतित होता जा रहा है। यन्त्र-वाद से होने वाली ऐसी हानियों को दृष्टि में रखकर ही भगवान ने इस व्यवसाय को कर्मादान में बताया है।

कोई कह सकता है, कि यदि गन्ना या तिल (जिसमें से

तेल निकलता है) पीलना कर्मादान में है, तब कोई कृषक जैन धर्म कैसे स्वीकार कर सकता है ! क्योंकि कृषक गन्ने की भी कृषि करता है, तथा तिल की भी। इसलिए उसके लिए कोल्हू की सहायता लेना आवश्यक है ! इस प्रकार के कथन का उत्तर यह है, कि अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए कोल्हू का उपयोग करने में और कोल्हू का धन्धा करने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने कोल्हू के धन्धे को ही कर्मादान में बताया है।

१२ निलंछण कम्मे, यानी पशुओं को खसी (नपुंसक) करके आजीविका करना है। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है। इस व्यवसाय से पशुओं को दुःख भी होता है और उनकी नस्ल भी खराब होती है।

१३ दवग्गीदावणिया कम्मे, यानी वन दहन करना है। भूमि साफ करने में श्रम न करना पड़े, इसलिए बहुत से लोग आग लगा कर भूमि के ऊपर का जङ्गल जला देते हैं और इस प्रकार भूमि साफ करते या कराते हैं तथा इस प्रकार आजीविका करते हैं। लेकिन इस कार्य से बहुत जीवों की हिंसा होती है, इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

१४ सर दह तलाब सोसणिया कम्मे, यानी तालाब नदी आदि के जल को सुखाना। कई लोग तालाब नदी आदि का पानी सुखा कर वहाँ की भूमि को कृषि करने योग्य बनाने का धन्धा किया

करते हैं। इस धन्धे के कारण जल में रहने वाले जीव मर जाते हैं, इसलिए श्रावक के वास्ते ऐसा धन्धा त्याज्य है।

१५ असइजण पोसणिया कम्मे, यानी असतियों का पोषण करके उनके द्वारा आजीविका चलाना। कई लोग कुल्टा स्त्रियों का इसलिए पोषण करते हैं, कि उनसे व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त किया जावे। यह धन्धा महान् पापपूर्ण एवं निन्द्य है, इसलिए श्रावकों के लिए सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर बताये गये दस कर्म और पाँच वाणिज्य, ये पन्द्रह कर्मादान हैं। श्रावक के लिए ये पन्द्रह कर्मादान सर्वथा त्याज्य हैं। कोई कह सकता है, कि 'संसार में ऊपर बताये गये व्यवसाय तो होते ही हैं, और यदि श्रावक न करें तब भी ये व्यवसाय होंगे ही, फिर श्रावकों को इन व्यवसायों द्वारा होने वाले लाभ से क्यों वंचित रखा जाता है! बल्कि यदि ये कार्य श्रावक करेंगे, तो अन्य लोगों की अपेक्षा श्रावक लोग कुछ तो पाप टालेंगे ही।' इस प्रकार के कथन का उत्तर यह है, कि वैसे तो संसार में सभी पाप होते हैं, लेकिन इस कारण यह युक्ति संगत नहीं हो सकती, कि श्रावकों के न करने पर भी वे पाप तो होंगे ही, इसलिए श्रावकों को उन कामों के लाभ से क्यों वंचित रखा जावे! संसार में पाप होते हैं, इसी कारण श्रावकों को पाप से बचने का उपदेश दिया जाता है। श्रावकों के न करने पर भी पाप पूर्ण कार्य तो होते ही

हैं, इस बात को दृष्टि में रखकर यह विधान नहीं किया जा सकता कि पाप करना चाहिए। कोई पापपूर्ण कार्य संसार में चाहे किसी भी रूप में होता हो, श्रावक को तो ऐसे कार्य से बचने का ही उपदेश दिया जायगा। यह नहीं हो सकता, कि संसार में वह पाप-कार्य होता है, इसलिए उसे अनिषिद्ध माना जावे। उदाहरण के लिए संसार में मांस का व्यवसाय होता ही है, लेकिन क्या इस कारण श्रावकों के लिए मांस का व्यापार निषिद्ध न होना चाहिए? जो कार्य पाप है, निन्द्य है; श्रावक को उससे बचने के लिए ही उपदेश दिया जावेगा, फिर वह कार्य संसार में कितना ही फायदेमन्द क्यों न होता हो! इसी के अनुसार पन्द्रह कर्मादान में बताये गये कार्य संसार में कितने भी क्यों न होते हों, लेकिन श्रावक को वे कार्य कदापि न करने चाहिएँ। क्योंकि वे कार्य महान् पाप द्वारा होते हैं। ये कार्य यदि बिलकुल ही बन्द हो जावें, तो इनके बन्द होने से संसार के लोगों का कोई काम नहीं रुक सकता। उदाहरण के लिए, यदि कोई आदमी कोयला बनाकर बेंचने या जङ्गल से लकड़ी काट कर बेंचने का धन्धा न करे अथवा किसी से न करावे, तो इससे संसार के लोगों का क्या काम रुक सकता है! जिसे लकड़ी या कोयले की आवश्यकता होगी, वह स्वयं अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। कर्मादान में बताये गये व्यवसायों में जितना अधिक पाप होता है, उतना अधिक आर्थिक लाभ भी नहीं होता।

इसके सिवा ये व्यवसाय, प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने वाले
जनता को प्राकृतिक लाभ से वंचित रखने वाले भी हैं। उदाहर
के लिए किसी आदमी ने जङ्गल की लकड़ी का ठेका लिया। वह
अपने ठेके के जंगल में से अधिक से अधिक लकड़ी काटेगा, जिससे
उस जंगल का सौन्दर्य भी नष्ट होता है तथा वृक्षों के कट जाने से
जनता को उतना ऑक्सिजन भी नहीं मिल सकता, जितना ऑक्सि-
जन कि वृक्षों के रहने पर मिल सकता है। इन सब बातों को दृष्टि में
रख कर, श्रावकों को महान पाप से बचाने एवं उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठता
प्राप्त कराने के लिए ही भगवान ने श्रावकों के लिये कर्मादान में बताये
गये कार्य निषिद्ध कहे हैं। कर्मादान में बताये गये व्यवसाय करने
वाला समाज की दृष्टि में भी प्रतिष्ठित नहीं माना जाता।

पन्द्रह कर्मादान का त्याग, श्रावक के मूल व्रतों में गुण
उत्पन्न करने वाला होने के साथ ही बुद्धि को निर्मल तथा चित्त
में समाधि रखने वाला है और आत्मा को कल्याण की ओर
बढ़ानेवाला है। इसलिए श्रावक को इन पन्द्रह कर्मादान का
त्याग करना चाहिए। इनके द्वारा आजीविका न करनी चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान, सातवें व्रत के अतिचारों में हैं। सातवें व्रत
के २० अतिचार हैं जिनमें से १५ अतिचार १५ कर्मादान ही कहाते
हैं और इन से पहले पाँच अतिचार दूसरे बताये गये हैं। श्रावक
को इन २० अतिचारों से बचते रहना चाहिए।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से आँठवें और तीन गुण व्रत में से तीसरे व्रत का नाम "अनर्थ दण्ड विरमण व्रत" है। अनर्थ दण्ड किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते हैः—

अर्थः प्रयोजनम् गृहस्थस्य क्षेत्र वास्तु धन धान्य शरीर परिपालनादि विषयं तदर्थ आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थ–दण्डः। दण्डो–निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थ-दण्डः सचैवं भूत उपमर्दन लक्षणो दण्डः क्षेत्रादि प्रयोजनम पेक्षमाणोऽर्थ–दण्ड उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थ दण्डः।

अर्थात्—अर्थ यानी प्रयोजन। गृहस्थ को खेत, घर, धन, धान्य या शरीर पालन आदि कामों के लिए आरम्भ द्वारा भूतोपमर्दन करना पड़ता है, वह भूतोपमर्दन अर्थ दण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चार प्रर्याय हैं। किसी कार्य से, यानि प्रयोजन से दिया गया दण्ड अर्थ दण्ड है और दण्ड का लक्षण है भूतों का उपमर्दन यानि खेत घर आदि के सिलसिले में भूतों (जीवों) का उपमर्दन अर्थ दण्ड है और इसके विपरीत अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही भूतों का उपमर्दन अनर्थ दण्ड है।

टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि अर्थ दण्ड किसे कहते हैं और अनर्थ दण्ड किसे कहते हैं। टीकाकार द्वारा बताये गये किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ समारंभ में त्रस और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है वह अर्थ दण्ड है और निष्कारण ही बिना किसी कार्य के केवल हास्य कौतूहल अविवेक या प्रमाद वश जीवों को कष्ट देना अनर्थ दण्ड है। जैसे कोई आदमी हाथ में कुल्हाड़ी लिये जा रहा है। उसने चलते चलते निष्कारण ही किसी वृक्ष पर कुल्हाड़ी मार दी। अथवा कोई आदमी हाथ में कुदाली लिए जा रहा है। उसने व्यर्थ ही जमीन पर कुदाली मारदी। इसी तरह किसी के हाथ में लकड़ी होने से बैठे हुए जानवर पर मारदी तो यह अनर्थ दण्ड है। इस तरह के अनर्थ दण्ड से निवृत होना, ऐसे अनर्थ दण्ड को त्यागने की प्रतिज्ञा करना, अनर्थ दण्ड विरमण व्रत है।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य यह है, कि श्रावक ने मूल व्रत स्वीकार करते समय जिन बातों की छूट रखी है, जिन बातों का आगार रखा है, उस छूट का उपयोग करने में अर्थ अनर्थ यानि सार्थक और निरर्थक का अन्तर समझ कर निरर्थक उपयोग से बचना। मूल व्रत स्वीकार करते समय जो छूट रखी गई है, उन छूट यानि आगारों को दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करके क्षेत्र से मर्यादित किया जाता है। उपभोग परिभोग

परिमाण व्रत स्वीकार करके पदार्थ से मर्यादित किया जाता है और अनर्थ दण्ड विरमण व्रत उन छूटों को क्रिया यानी कार्य के अविवेक से मर्यादित करता है। दिक् परिमाण व्रत से यह मर्यादा की जाती है, कि मैं इस सीमा के भीतर ही छूट का उपयोग करूंगा, इस सीमा के बाहर छूट का उपयोग न करूँगा। उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में यह मर्यादा की जाती है, कि मैं मूल व्रत में रखी गई छूट का उपयोग इन पदार्थों के सम्बन्ध में ही करूँगा, इन पदार्थों के सिवा और किसी पदार्थ के सम्बन्ध में छूट का उपयोग न करूंगा, और उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले व्यवसायों में से अमुक-अमुक व्यवसायों में (जो पन्द्रह कर्मादान कहे जाते हैं) छूट का उपयोग न करूंगा। यानी ये व्यवसाय न करूंगा। अनर्थ दण्ड विरमण व्रत द्वारा यह मर्यादा की जाती है, कि मैं छूट का निरर्थक उपयोग न करूंगा। इस प्रकार अनर्थ दण्ड विरमण व्रत का उद्देश्य अर्थ अनर्थ को जान कर अनर्थ से बचना है। निष्कारण ही किसी त्रस या स्थावर जीवों को कष्ट देने से बचना है। अर्थात् यह कार्य मेरे लिए आवश्यक है या नहीं, इस बात का विवेक करके उन कार्यों से बचना है, जिनके किये बिना अपनी कोई आवश्यकता नहीं रुकती है और जिन के करने से किन्हीं जीवों को निष्कारण ही कष्ट होता है।

श्रावक जब तक गृहस्थावस्था में है, कौटुम्बिक जीवन में फँसा हुआ है, तब तक उसे जीवन की रक्षा के लिए, प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए और इसी तरह अन्य कार्यों के लिये कई तरह के कार्य करने पड़ते हैं। उन कार्यों के करने में आरम्भ समारम्भ का होना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार श्रावक को आरम्भ समारम्भ तो करना ही पड़ता है, लेकिन श्रावक होने के कारण इस बात का ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है, कि मेरे द्वारा वही कार्य हो, मैं उसी आरम्भ समारम्भ में पड़ूं जिसका करना मेरे लिए आवश्यक है, और जिसके करने से मेरा कोई उद्देश्य पुरा होता है। इस तरह का ध्यान रख कर उसे ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये, जिससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्त्ति नहीं होती, जिसके किये बिना कोई आवश्यकता नहीं रुकती, और जो केवल प्रमाद, कौतूहल अथवा रूढी परंपरा के कारण किये जाते हैं। श्रावक के लिए आरम्भ जा हिंसा खुली है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यों में ही कर सकता है, निरर्थक कार्यों में नहीं कर सकता। इसलिये श्रावक को प्रत्येक कार्य के विषय में यह विचार कर लेना चाहिए, कि मेरे द्वारा किया जाने वाला यह कार्य मेरे किस आवश्यक उद्देश्य की पूर्त्ति करता है, मेरा यह कार्य सार्थक है या निरर्थक और इस तरह का विवेक करके उसे उन कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए जो किसी उद्देश्य को

पूरा नहीं करते हैं, किन्तु निरर्थक हैं। इस तरह के निरर्थक कार्य चाहे रूढ़ि परम्परा के नाम पर किये जाते हों, अथवा और किसी कारण से। श्रावक को तो अनर्थ दण्ड विरमण व्रत स्वीकार करके ऐसे निरर्थक कार्य त्याग ही देने चाहिएँ।

आज कल रूढ़ि परम्परा के नाम पर ऐसे अनुचित कार्य भी किये जाते हैं, जो किसी तरह लाभप्रद होने के बदले हानिप्रद ही होते हैं। ऐसे कामों का किया जाना रीति रिवाज में माना जाता है। उनके औचित्य अनौचित्य पर विचार तक नहीं किया जाता न यही देखा जाता है, कि इन कार्यों से किसी उद्देश्य की भी पूर्त्ति होती है या नहीं और ये कार्य सार्थक हैं या निरर्थक। इस तरह के अनेक कार्य तो ऐसे भी हैं, जिनके करने से धन, जन, स्वास्थ्य और सभ्यता नष्ट होती है, फिर भी उन कार्यों को नहीं त्यागा जाता। बल्कि यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे कार्यों को त्यागने के लिये कहता है, अथवा इस के लिये कोई प्रयत्न करता है, तो ऐसा करनेवाले पर अनेक दोषारोपण कर दिये जाते हैं, उसे प्राचीनता तथा परम्परा का नाशक कहा जाता है और जिस तरह बनता है उसे हतोत्साह कर दिया जाता है। यही कारण है, कि आज यह भारत, रूढ़ि परम्परा के नाम पर पतित होता जा रहा है। इस तरह के कामों के औचित्य अनौचित्य के विषय में, दूसरे लोग विचार करें या न करें, और जो अनुचित निरर्थक

अथवा हानिप्रदकार्य हैं उन्हें त्यागें, या न त्यागें लेकिन श्रावक को तो इस विषयक विवेक करना ही चाहिए, और रूढ़ि के गुलाम न रह कर उन कामों को त्यागना ही चाहिए, जो अनुचित हानि प्रद अथवा निरर्थक हैं। ऐसा करने पर श्रावक हानि से भी बच सकता है, व्यर्थ के कर्म बन्ध से भी बच सकता है, चित्त को समाधि भाव में भी रख सकता है, और मूल व्रतों का पूरी तरह पालन करने में भी समर्थ हो सकता है। इस तरह के व्यर्थ यानी निरर्थक कामों से बचना, यही अनर्थ दण्ड से बचना है। इस-लिए अनर्थ दण्ड के पाप से बचने की इच्छा रखने वाले श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में अर्थ और अनर्थ का विचार कर लेना चाहिए तथा अनर्थ दण्ड का सर्वथा त्याग करके अर्थ दण्ड के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना चाहिए।

जिस व्यक्ति ने जहां तक पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण नहीं की है, उस व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए अथवा गृह कार्य चलाने के लिए अर्थ-दण्ड का पाप करना ही पड़ता है। यह पाप आलस्य में पड़े रहने, उद्योग त्याग देने अथवा अकर्मण्य बन बैठने से नहीं छूटता, किन्तु तभी छूटता है, जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण की जावे। लेकिन जब तक पूर्णत्यागवृत्ति स्वीकार नहीं की है, तब तक अपूर्णावस्था में अल्पपाप और महापाप का विवेक करके महापाप

से तो बचना चाहिए। यह व्रत विशेषतः इसी बात की प्रतिज्ञा कराता है, कि मैं प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में विवेक करूँगा और अनर्थ दण्ड से बचूंगा। इस व्रत का उद्देश्य प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक करके अनर्थदण्ड से बचना यानि इस प्रकार व्यर्थ के पाप से आत्मा को बचाये रखना है।

अर्थ-दण्ड और अनर्थ-दण्ड की व्याख्या कुछ विचित्र सी है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिए अर्थदंड है, वही कार्य दूसरे व्यक्ति के लिए अनर्थ दण्ड हो सकता है। इसलिए इस विषयक कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता, कि कौनसा कार्य अर्थ दण्ड है, और कौनसा अनर्थ दण्ड है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यों की परिस्थिति एकसी नहीं होती प्रथक् प्रथक् होती है। अतः इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने विवेक की सहायता से कर सकता है।

शास्त्रकारों ने अनर्थ दण्ड के प्रधानतः चार भेद किये हैं। वे कहते हैं।

अणत्था दण्डे चउविहे पण्णत्ते तंजहा, अवज्झाणाचरिए, पमायाचरिए हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे।

अर्थात्—अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है, अपध्याना चरित, प्रमादा चरित, हिंसा में सहायक होना और पाप कर्म का उपदेश देना।

अनर्थ दण्ड के शास्त्रकारों ने जो चार भेद किये हैं, उनमें

से पहला भेद अपध्यान चरित अनर्थ दण्ड है। अपध्यान किसे कहते हैं, इसके लिए कहा है, कि:—

अप्रशस्त ध्यानमपध्यानम्।

अर्थात्—जो अप्रशस्त यानी बुरा है, वह ध्यान अपध्यान कहलाता है।

ध्यान का अर्थ है अन्तर महूर्त्त मात्र किसी प्रकार के विचारों में चित्त की एकाग्रता होना। निरर्थक बुरे विचारों में चित्त की एकाग्रता करने से जो अनर्थदण्ड होता है, शास्त्रकार उसे अपध्यान चरित, अनर्थदण्ड कहते हैं। यानि बुरे विचारों से होने वाला अनर्थदण्ड।

अपध्यान के शास्त्रकारों ने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद किये हैं। आर्त्तध्यान 'आ' और 'ऋत' इन दो शब्दों से बना है। ऋत का अर्थ दुःख है। ऋत शब्द में 'आ' उपसर्ग लगा कर ऋत को प्रबल बनाया गया है। इस प्रकार आर्त्तध्यान का अर्थ दुःख के कारण उत्पन्न बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना है। शास्त्रकारों ने आर्त्तध्यान के भी निम्न चार भेद किये हैं—

अमणुन्न संपओग संपउत्ते तस्सविप्पओगस तिसमरणा यावि भवई, १ मणुन्न संपओग संपउत्ते तस्स अविप्पओग तिसमरणागते यावि भवई, २ आयंक संपओग संपउत्ते तस्स

विप्पओगसं ति समण्णागते यावि भवई, ३ परिजुसित काम भोग संपउत्ते तस्स अविप्पओगस्स ति समण्णागते यावि भवई ४ ।

(स्थानाङ्ग सूत्र चतुर्थस्थान)

ऊपर जो चार भेद बताये गये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं; अनिष्ट का संयोग होने पर, इष्ट का वियोग होने पर, रोगादि होने पर और इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख, इन चार तरह के दुःख के होने पर पीड़ा से अथवा दुःख से मुक्त होने के लिए उत्पन्न बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान के इन चारों भेदों के विषय में कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, जो नीचे किया जाता है।

अपनी हानि करने वाले, या जिस हानि को हमने अपनी हानि मान रखी है वह हानि करने वाले का संयोग होना अनिष्ट संयोग-यानी न चाहा हुआ मिलन—कहाता है। अपना या अपने स्वजन का शरीर धन आदि नष्ट करने वाले-विष, अग्नि, शस्त्र, हिंस्र-पशु, दुष्ट या दैत्यादि भयंकर प्राणियों का संयोग हो जाना मिल जाना अनिष्ट संयोग है। थोड़े में हानि करने वाले के पंजे में फँस जाना अनिष्ट संयोग है। इस तरह से अनिष्ट संयोग से उत्पन्न दुःख के कारण, अथवा ऐसे अनिष्ट संयोग से छुटकारा पाने के लिये मन में जो बुरे तथा दुःख भरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन विचारों में मन का तल्लीन होना, आर्त्तध्यान का पहला भेद है।

जो अपने को प्रिय है उस राज्य, धन, स्त्री, पुत्र प्रभृत्ति कुटुम्बी जन का वियोग हो जाना यानी छूट जाना इष्ट वियोग है। ऐसा इष्ट वियोग का दुःख होने पर उस दुःख के कारण, अथवा इष्ट चीजों की रक्षा की चिन्ता से पैदा हुए दुःख के कारण जो दुःख पूर्ण बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना आर्त्तध्यान का दूसरा भेद है।

आर्त्तध्यान का तीसरा भेद शारीरिक रोगों से होने वाले दुःख के कारण, अथवा ऐसे दुःख से मुक्ति मिलने की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःख पूर्ण बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना है। और आर्त्तध्यान का चौथा भेद है, विषय भोग के अप्राप्त पदार्थों के कारण दुःख या प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःखपूर्ण बुरे विचारों में मन का एकाग्र होना। उदाहरण के लिए, हाय! मुझे वह चीज क्यों नहीं मिली! मैं वह चीज कैसे प्राप्त करूँ! आदि दुःख या चिन्ता से बुरे और दुःखपूर्ण विचार होना तथा उन विचारों में मन का लगना, आर्त्तध्यान का चौथा भेद है।

मतलब यह कि अनिष्ट के संयोग से, इष्ट के वियोग से, रोग की प्राप्ति से और भोग की अभिलाषा से पीड़ित व्यक्ति पीड़ा से घबराकर जो बुरे विचार करता है, उन बुरे विचारों में मन का लगना आर्त्तध्यान है। रोते चिल्लाते हाय-हाय करने आदि पीड़ा प्रतीक कार्यों का समावेश भी आर्त्तध्यान में ही है। क्योंकि ये सब

बाह्य बातें मन के विचारों से ही उत्पन्न होती हैं। आर्त्तध्यान का लक्षण थोड़े में बताने के लिए एक कवि कहता है—

> राज्योपभोग शयनासन वाहनेषु।
> स्त्री गन्ध माल्य वर रत्न विभूषणेषु॥
> अत्याभिलाष मिति मात्र मुपैति मोहाद।
> ध्यानंतदार्त मिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात्—राज्योपभोग, शैया, आसन, वाहन, स्त्री, गन्ध, माला, रत्न, आभूषण आदि की अत्यन्त अभिलाषा अथवा इन पर अत्यन्त मोह होने के कारण जो ध्यान होता है, ज्ञानी लोग उस ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।

अपध्यान का दूसरा भेद रौद्रध्यान है। स्वार्थ अथवा क्रोध मोह, लोभ, भय आदि के वश होकर दूसरे की हानि के लिए उत्पन्न विचारों में मन का एकाग्र होना रौद्रध्यान है। रौद्र का अर्थ है भयङ्कर। जो दूसरे के लिए भयङ्कर है ऐसे विचार में एकाग्र होना रौद्रध्यान है।

शास्त्रकारों ने रौद्रध्यान के भी "हिंसानुबन्धी, मोसानुबन्धी, तेणाणुबन्धी और सारक्खणाणुबन्धी" ये चार भेद किये हैं। अपने या दूसरे के द्वारा मारे, कूटे, बांधे या दूसरी तरह से कष्ट पाते हुए व्यक्ति को देख कर या उसका करुण अथवा आर्त्तनाद सुनकर प्रसन्न होना, अथवा अमुक प्राणी को किस तरह मारना, बांधना या

यह काम किसके द्वारा कराना चाहिए, यह काम करने में कौन चतुर है, इस काम को कौन शीघ्र कर सकता है आदि विषयक भयङ्कर विचारों में मन को लगाना हिंसानुबन्धी नामक रौद्रध्यान का पहला भेद है।

रौद्रध्यान का दूसरा भेद मोसाणुबन्धी यानी मृषानुबन्धी है। झूठ को सफल बनाने, सच्ची बात को झूठी और झूठी को सच्ची ठहराने के उपाय विचारने में, अपना स्वार्थ साधने, अनुचित लोगों की भावुकता या उदारता का अनुचित लाभ उठाने के और लोगों को अपने प्रभाव में लाने के लिये कोई झूठा प्रपंच रचने, झूठे शास्त्र आदि बनाने का उपाय सोचने में मन को एकाग्र करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चोरी, डकैती अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य के लिए, पर धन, परदार आदि का हरण करने के विचार में तल्लीन होना, उपाय सोचना, ऐसे कार्यों में हर्ष मानना, यह स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है, जो रौद्रध्यान का तीसरा भेद है।

अपने को जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए स्त्री, भूमि, धन या सुख के अन्य साधनों को दूसरे से बचाने के लिए, कोई उन्हें छीन न सके या उनमें भाग न करा सके, 'इस सम्बन्धी अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए और ऐसी सामग्री पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए क्रूर विचारों में मन का एकाग्र

ना यह संरक्षणानुबन्धी नाम का रौद्रध्यान है, जो रौद्रध्यान का
था भेद है।

रौद्रध्यान के ये चार भेद हैं। संक्षेप में रौद्रध्यान किसे कहते
यह बताने के लिए एक कवि कहता है—

सं छेदनैर्दमन ताड़न तापनैश्च।
बन्ध प्रहार दमनैश्च विकृन्तनैश्च॥
यश्येह राग मुपयाति न चानुकम्पा।
ध्यानं तु रौद्र मिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात्—जिन में क्रूरता भरी हुई है, जिनमें अनुकम्पा नहीं है किन्तु
। दूसरे के लिए भयङ्कर हैं, दूसरे प्राणी को छेदने, भेदने, पीटने, मारने,
पाने, बांधने, बिगाड़ने आदि की जिनमें प्रधानता है, ऐसे विचारों में
न के तल्लीन होने को ज्ञानी लोग रौद्रध्यान कहते हैं। †

---

† वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्यों ने नैतिक उद्योग त्याग कर
ट्टे फाटके को ही अपना व्यवसाय बना रखा है, और यह करके भी, जो
तिक उद्योग धन्धा करने वाले हैं उन्हें तो पापी, हिंसक आदि कहते हैं,
था स्वयं को धर्मी एवं अहिंसक मानते हैं। लेकिन ज्ञानी लोग ऐसा
हीं मानते, किन्तु इस तरह के अहिंसकों को वे भाव हिंसक कहते हैं।
नकी दृष्टि में कायिक पाप की अपेक्षा मानसिक पाप बहुत बड़ा है।
नका कथन है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

जिन जीवों के मन नहीं है, वे न तो अधिक उन्नत ही हो सकते हैं,
अधिक अवनत ही। इसके विरुद्ध जिन जीवों को मन प्राप्त है वे जीव

ऊपर जिन आर्त्त और रौद्रध्यान का रूप बताया है, वे अपध्यान में हैं, जो अनर्थदण्ड का पहला भेद है। इस तरह का अपध्यान जो व्यर्थ ही होता है, किसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है, उसकी गणना अनर्थदण्ड में की गई है। निरर्थक अपध्यान करने से जो अनर्थदण्ड होता है, वह अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है। अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड में वही अपध्यान माना गया है, जो निष्कारण निष्प्रयोजन और अज्ञानवश किया जावे। जो सकारण और सप्रयोजन है, वह अपध्यान अर्थ-दण्ड में है।

अनर्थदण्ड का दूसरा भेद प्रमादाचरित अनर्थ दण्ड है। शास्त्रकारों ने प्रमाद के पाँच भेद किये हैं। आत्मा संसार में क्यों रुलता है, यह बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मज्झं विसय कसाया, निद्दा विकहाय पंचमी भणिया।
ए ए पंच पमाया, जीवा पडंति संसारे॥

अर्थात्—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पाँच प्रमादों का सेवन करके जीव इस संसार-समुद्र में गिरता है।

इस प्रकार प्रमाद के पाँच भेद कहे गये हैं। नीचे इन पाँचों भेदों का पृथक्-पृथक् स्वरूप बताया जाता है।

उन्नत्ति करें तो मोक्ष तक प्राप्त कर सकते हैं और अवनत हों तो सातवें नरक तक में जा सकते हैं। इसलिए श्रावक को अपना मन प्रशस्त ध्यान में ही लगाना चाहिए।

१ मदः—मद शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो अहंकार और दूसरा मदिरा (शराब)। अहंकार भी उन्मत्तता देता है और मदिरा भी। मद, प्रमाद का मुख्य उत्पादक और आत्मा को पतित करने वाला है।

२ विषयः—पाँच इन्द्रियों के २३ विषय हैं, जिनमें फँसकर आत्मा अपने आपको भूल जाता है। जिसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त हो जाती हैं, वह व्यक्ति अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देता है।

३ कषायः—क्रोधादि कषाय का प्रकोप होने पर आत्मा बेभान हो जाता है, अपने आपे में नहीं रहता।

४ निद्राः—निद्रा भी आत्मा की सावधानी का अपहरण करती है। निद्राधीन लोगों को अनेक प्रकार की हानि उठानी पड़ती है।

५ विकथाः—जिनके कहने सुनने से कोई लाभ नहीं, उन बातों की गणना विकथा में है। विकथा आत्मा के गुणों का नाश करने वाली होती है।

ये पाँच प्रमाद अनर्थदण्ड में हैं। संसार में रहनेवाला व्यक्ति प्रमाद का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। इसलिए प्रमाद के भी सकारण और अकारण भेद करके कहा गया है, कि सकारण प्रमाद तो अर्थदण्ड में है और निष्कारण प्रमाद अनर्थदण्ड में है।

अनर्थदण्ड का तीसरा भेद हिंसप्पयाणे यानी हिंसा में सहायक होना है। टीकाकार कहते हैं—

हिंसा हेतुत्वादायुधानल विषादयो हिंस्रोच्यते तेषां प्रदानम्
अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय अनभिभूताय प्रदानं परेषां समर्पणम्।

अर्थात्—जिनसे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को—हिंसा के उपकरणों को—क्रोध से भरे हुए अथवा क्रोध नहीं है फिर भी जो अनभिज्ञ है उसके हाथों में दे देना, हिंसप्पयाणे या हिंसा में सहायक होना है।

यद्यपि इस तीसरे भेद का रूप ऐसा है, फिर भी इसमें अर्थ अनर्थ का भेद किया गया है, और अर्थ से ऐसा करना अर्थदण्ड में तथा निष्कारण ही ऐसा करना अनर्थदण्ड में माना गया है। वर्त्तमान कानून के अनुसार भी क्रोध से भरे हुए उत्तेजित आदमी को, अथवा जो क्रोध से भरा हुआ न होने पर भी अनभिज्ञ है उसको शस्त्र, विष, अग्नि आदि देना अपराध माना गया है।

अनर्थदण्ड का चौथा भेद 'पावकम्मोवएसे' यानी पापकर्म का उपदेश देना है। जिस उपदेश के कारण पापकर्म में प्रवृत्ति हो, उपदे— सुननेवाला पापकर्म करने लगे, वैसा उपदेश देना अनर्थ दण्ड है।

बहुत लोगों की यह आदत रहती है, कि वे दूसरे को पापकर करने के लिए उपदेश देते रहते हैं। बकरा मारो, पशुबलि करो, चोरी करो, राज्यद्रोह करो या राष्ट्रोत्थान में बाधक बनो आदि उपदेश देना अनर्थदण्ड का चौथा भेद है।

अनर्थदण्ड के जो चार भेद बताये गये हैं, उन चारों को समझ

कर श्रावक के लिए अनर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना ही उचित है। इसके लिए आत्मा को सावधान रखने, एवं प्रत्येक कार्य के विषय में विवेक करने यानी विचार करने की आवश्यकता है। जो प्रत्येक कार्य के विषय में अर्थ अनर्थ का विवेक करता है और निरर्थक कामों से बचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से बचा रह सकता है। अनर्थदण्ड द्रव्य से तो प्राणी, भूत, जीव, सत्व का विनाश करता है और भाव से आत्मा की हानि करता है। व्यवहार में दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाना या दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने का विचार करना, निश्चय में अपने आत्मा की ही हिंसा है। इसलिए श्रावकों को अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए।

कोई कह सकता है, कि दण्ड तो सर्वथा त्याज्य होना चाहिए, फिर अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड ये भेद करके अनर्थदण्ड ही त्यागने का क्यों कहा गया? दण्डमात्र त्यागने का क्यों नहीं कहा गया? इस कथन का उत्तर यह है, कि वास्तव में है तो दण्डमात्र बुरा और त्याज्य, लेकिन गृहस्थों के लिए दण्ड का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। साधु तो दण्डमात्र का त्याग कर सकते हैं, परन्तु गृहस्थ दण्ड मात्र का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए गृहस्थों के वास्ते दण्ड के दो भेद किये गये हैं, और कहा गया है कि गृहस्थ अनर्थदण्ड का त्याग करे। गृहस्थ, अर्थदण्ड का त्याग नहीं कर सकता। वह जितना हो सके उतना अर्थदण्ड से बच तो अवश्य सकता है, लेकिन

अनर्थदण्ड की तरह अर्थदण्ड का भी सर्वथा त्याग करना उसके लिए सम्भव नहीं हो सकता। बल्कि यदि कोई गृहस्थ अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करेगा, तो बहुत संभव है कि वह अर्थदण्ड के बदले अनर्थदण्ड का पाप करने में पड़ जावेगा। क्योंकि उसकी आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं, वह ऐसे प्रपंच में उलझा हुआ है, कि जिसके कारण दण्ड के बिना उसका काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए एक गृहस्थ न्याय पूर्वक द्रव्योपार्जन करता है और आजीविका चलाता है। इस कार्य में उससे अर्थ दण्ड तो होता ही है। अब यदि वह अर्थ दण्ड से बचने के लिए न्याय पूर्वक कीजानेवाली आजीविका का त्याग कर देता है, तो उस दशा में वह भूखों मरने से तो रहा! फिर तो उसके लिए चोरी, डकैती ठगाई अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य करना आवश्यक हो जाता है, और चोरी अथवा चोरी की ही तरह के दूसरे कार्य करने पर मूल व्रत की भी घात होगी और अर्थदण्ड के स्थान पर अनर्थदण्ड होगा। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी, अर्थ दण्ड सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करना अपने को अनर्थदण्ड में डालना है। ज्ञानियों ने इस बात को दृष्टि में रख कर ही गृहस्थों के लिए अनर्थदण्ड सर्वथा त्यागने और अर्थदंड से यथा शक्ति बचने का विधान किया है। गृहस्थ अर्थदण्ड सर्वथा नहीं त्याग सकता, इसीलिए उनने अर्थदण्ड त्यागने का नहीं कहा। हाँ किसी समय

विशेष के लिए तो यह सम्भव है, कि गृहस्थ अर्थदण्ड से भी बच सके, जैसे कि सामायिक पौषध आदि व्रतों के समय अर्थदण्ड सर्वथा त्यागा जाता है, लेकिन जीवन भर के लिए अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना गृहस्थ के लिए सम्भव नहीं है।

आज कल बहुत से लोग गृहस्थ श्रावक को अर्थदण्ड का बिना समझे या समझाये त्याग कराते हैं। परिणाम यह होता है, कि 'लेने गई पूत और खो आई पति' कहावत के अनुसार अर्थ दण्ड के बदले अनर्थदण्ड गले पड़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि अर्थदण्ड से बचने के वास्ते स्वास्थ्य रक्षक कार्यों की उपेक्षा की जावेगी, उन्हें त्याग दिया जावेगा, तो शरीर में रोग होने पर उन भ्रष्ट दवाइयों का सेवन करना पड़ेगा, जिनके सेवन से अनर्थदण्ड होता है। अथवा अर्थदण्ड से बचने के लिए सब लोग कृषि करना त्याग दें, जिससे संसार का काम चलता है वह अन्न अर्थदण्ड से बचने के नाम पर कोई उत्पन्न ही न करे, तो क्या काम चल सकता है? क्या उस दशा में भूखों मरते हुए लोग, अनर्थदण्ड का सेवन न करेंगे और भयंकर पाप में न पडेंगे? खेती आदि करने में अर्थदण्ड तो अवश्य होता है, लेकिन यह अर्थदण्ड अनर्थदण्ड से बचाने वाला है। इस अर्थ दण्ड के बिना काम नहीं चल सकता। खेती करने वाला स्वयं भी अनर्थ दण्ड से बचता है, दूसरों को अनर्थ दण्ड से बचाने रूप परोपकार

भी करता है और यदि वह विवेक से काम ले, तो खेती करते हुए पुण्य भी बांध सकता है।

मतलब यह कि, गृहस्थों से अर्थदण्ड का त्याग कराना, उन्हें अनर्थदण्ड में डालना है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही शास्त्रकारों ने गृहस्थों पर अर्थदण्ड त्यागने का भार न डाल कर अनर्थदण्ड त्यागने का ही भार डाला है और इसी से इस व्रत का नाम अनर्थदण्ड विरमण व्रत है, जिसका सब जीवों के लिये अंगीकार करने का विधान है।

अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के अतिचार

शास्त्रकारों ने अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं। वे कहते हैं—

अनत्थादण्ड वेरमणस्स समणोवासगाणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा—कन्दप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोग परिभोगाइरि ते।

अर्थात्—अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण, उपभोग परिभोग रति।

१ पहला अतिचार कन्दर्प है। काम वासना प्रबल करनेवाले और मोह उत्पन्न करनेवाले शब्दों का हास्य या व्यङ्ग में दूसरे के लिए उपयोग करना कन्दर्प नाम का पहला अतिचार है।❀ (सरल चित्त से हास्योत्पादक शब्दों का सहज प्रयोग अतिचार में नहीं है।)

❀ काम वासना प्रबल करने वाले या मोह उत्पन्न करने वाले शब्दों का लेखनकला द्वारा प्रयोग करना भी इसी अतिचार में है।

२ दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है। आँख, नाक, मुँह, भृकुटि आदि अपने अंगों को विकृत बनाकर भाँड या विदूषक की तरह लोगों को हँसाना, यह कौत्कुच्य नाम का दूसरा अतिचार है। सभ्य लोगों के लिए ऐसा करना, प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अनुचित है। क्योंकि ये कार्य प्रतिष्ठा का नाश करनेवाले होते हैं।

३ तीसरा अतिचार मौखर्य है। निष्कारण ही अधिक बोलना, निष्प्रयोजन और अनर्गल बातें कहना, थोड़ी बात से काम चल सकने पर भी अधिक बात बोलना, यह मौखर्य नाम का तीसरा अतिचार है।

४ चौथा अतिचार संयुक्ताधिकरण है। कूटने, पीसने और गृहकार्य के दूसरे साधन—जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाडू, सूप, सिला लोढ़ी आदि वस्तुओं का अधिक और निष्प्रयोजन संग्रह रखना संयुक्ताधिकरण नाम का चौथा अतिचार है।

५ पाँचवाँ अतिचार उपभोग परिभोगाइरत्ते है। उपभोग परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते हुए जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं उनमें अत्यधिक आसक्त रहना, उनमें आनन्द मानकर उनका बार बार उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन निर्वाह के लिए नहीं किन्तु स्वाद या आनन्द के लिए करना उपभोग परिभोग अति रति है। उदाहरण के लिए पेट भरा होने पर भी स्वाद के लिए खाना, अथवा आवश्यकता न होने पर भी शौक के लिए वस्त्रादि का धारण करना

या उन्हें बार बार बदलना, अथवा आनन्द के लिए अनावश्यक हो बार बार स्नान करना आदि उपभोग परिभोगइरित्ते हैं।

श्रावकों को इन पाँचों अतिचार का स्वरूप समझ कर इनसे बचते रहना चाहिए। ऐसा करने से उनका व्रत निर्मल रहेगा और वे आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इन तीन गुणव्रतों का विस्तार जितना भी किया जावे, हो सकता है। सारे संसार की समालोचना इन व्रतों के वर्णन में समावेश हो सकती है—जो महाज्ञानी लोग हो कर सकते हैं। संक्षेप में ही हमने स्वरूप समझाने की चेष्टा की है। आशा है सुज्ञजन इससे तत्त्वलाभ प्राप्त करके आत्मोत्थान के लिये प्रवृत्त होंगे। इत्यलम्।

भारतीय आदर्शनारी

सती जसमा

जिसको

भारतीय सन्नारियों के हितार्थ

श्रीमती स्वर्गीया राजकुँवर बाई की पुण्यस्मृति में

श्रीमती सेठाणी आनन्दकुँवर बाई की तरफ से

भेंट

सम्पादक—

बालचन्दजी श्रीश्रीमाल

प्रकाशक

सेठ बदीचंदजी वरदभानजी पितलिया

बैंकर्स रतलाम

प्रथमावृत्ति 1000 | मूल्य सदुपयोग | वीर निर्वाण सं० २४७०

प्राप्तिस्थान—
श्री सा० जैनपूज्य श्रीहुक्मीचंदजी महाराज की
सम्प्रदायका
हितेच्छु श्रावक मंडल
रतलाम

पोस्टचार्ज के लिये =) दो आने के टिकिट आने पर
भेजी जावेगी।

मुद्रक—
बाबू चिम्मनलाल जैन द्वारा
आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

जिनकी पुण्य स्मृति में यह पुस्तक भेंट दी गई है

श्रीमती सौभाग्यवती राजकुँवरबाई

जन्म सं० १९८१
वैसाख कृष्णा ३

निधन सं० २०००
फाल्गुन शुक्ला ४

उम्र साल २०

चित्र परिचय
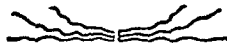
मालवान्तर्गत रतलाम शहर में सेठ अमरचन्दजी साहब पितलिया प्रसिद्ध पुरुष हो गये हैं आपकी ख्याति समाज में व्याप्त है। आप संसार पक्ष में श्रीमन्त लक्षाधिपति एवं राज्यमान्य पुरुष थे। रतलाम नरेश महुर्म महाराजा श्री रणजितसिंहजी साहब बहादूर ने आपको सेठ, पदवी व दो घोड़ों की बग्गी एनायत की थी तथा पालखी आदि अन्य लवाजमा भी बक्षा था जो कि साधारण लोगों को रियासतों में नहीं दिया जाता।

श्रीमान् सेठ साहब राज्य मान्य होने के साथ ही साथ प्रजा में भी गण मान्य पुरुष थे। रतलाम के साहूकारों में आपकी दुकान प्रतिष्टा पात्र मानी जाती है। सार्वजनिक कार्यों में विशेष भाग लेते थे इससे जनता आपको सम्मान की द्रष्टि से देखती थी। धर्म पक्ष में भी आप श्रद्धावान एवं विशेषज्ञ थे बड़े २ आचार्यों व सन्तसतियों की सेवा की थी व उनकी वाणी श्रवण करके मनन करते थे जिससे आपकी प्रज्ञा बहुत तेज बन गयी थी जल में तेल की तरह आपका ज्ञान सुविस्तृत बन गया था जिससे शास्त्रीय

गूढ तत्वों का समाधान आप उत्तम शैली से करते थे यही कारण है कि बाहर से जिज्ञासुओं के प्रश्न आया ही करते थे।

मोरवी कान्फरेन्स के समय राजकोट निवासी राव बहादूर भीमजी भाई मोरारजी तो आपकी ग्रहस्थ वेष में साधु के सम्बोधन से पहचान कराते थे। और आपको गुरु स्थान पर मानकर सम्मान करते थे। ऐसे नर रत्न की पौत्री बाईराज कुंवर का यह चित्र है।

सेठ अमरचन्दजी के सुपुत्र सेठ वरदभाणजी साहब को स्थानक वासी जैन समाज में कौन ऐसा होगा जो नहीं जानता हो आपका स्वर्गवास हुए स्वल्प समय ही हुआ है परन्तु समाज आपको बार बार याद करती है। आपके वियोग का दुख वेदती है। आप भी अपने पिता की तरह समाज में चमकते सितारे थे संसार पक्ष एवं धर्म दोनों में आप प्रतिष्ठित माने जाते थे।

श्रीमती राजकुंवर बाई जिसका चित्र आपके समक्ष है स्वर्गीय सेठ वरद भाणजी साहब की पुत्री थी सुसंस्कारों के कारण बचपन में ही धार्मिक एवं व्यावहारीक शिक्षा प्राप्त हो गई थी। स्वभाव से हंसमुख एवं मिलनसार प्रकृति की थी। इनका विवाह मन्दसौर निवासी श्रीमान् सेठ फताजी तिलोकचन्दजी की फर्म के वारिशान में से कुंवरजी श्री सूरजमलजी साहब महेता के साथ सं० १९९६ मे हुवा था। विवाह होने के ढाई वर्ष बाद आपको एक पुत्र का प्रसव हुवा था उसी अरशे में सेठ वरद भाणजी साहब का

स्वर्गवास हो जाने से इनको पिता श्री की अन्तिम भेंट न होने के कारण गहरा आघात पहुंचा। शारिरिक निर्बलता में यह मानसिक आघात लगने से इनके शरीर में बिमारी ने जड़ घाल दी जो कुछ समय बाद भयंकर रूप धारण कर गई।

सेठ वरद भाणजी साहब की सन्तानो में पुत्र न होने से बाई की विधवा माता ने सभी शक्य उपचार किये परन्तु सफलता प्राप्त न होकर निराशा ही साम्हने आयी तब आपकी माता ने हिम्मत धारण कर आलोचना व त्याग प्रत्याख्यान कराके धर्म श्रवणादि साज दिया। बाई ने भी अपने जीवन की यह दशा देख-कर सबसे क्षमा याचना करते हुए परमात्मा के शरण में अपना जीवन समर्पण कर दिया।

इनकी पुण्य स्मृति में रूपे पन्द्रहसो श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सांहब महेता ने और रूपे एक हजार श्रीमती सेठाणीजी आनन्द कुंवर बाई (इनकी माताजी) ने निकाले उनमें से कुछ रकम तो छुट कर जन हितकारी कार्यों व संस्था ओंको दी है और यह पुस्तक बाई की "पुण्यस्मृति" में आपके कर कमलों में पहुँचाई जाती है।

भवदीय

बालचन्दश्रीश्रीमाल

प्रकाशक का निवेदन

यह क्रान्तियुग है इसमें प्रत्येक मनुष्य अपनी २ उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहा है किन्तु हमारे अर्द्धाङ्ग-स्त्रियों का लक्ष्य इस तरफ बहुत कम दिखाई देता है। ये अपने साज श्रृंगार और घरेलू कार्यों से ही अवकाश नहीं पाती हैं न इनकी समुचित शिक्षा का ही प्रबन्ध है न इनके सामने उत्तम आदर्श ही है।

श्री साधुमार्गी जैनपूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावकमंडल के अवैतनिक मंत्री श्रीयुत बालचन्दजी श्री श्रीमाल ने यह पुस्तक तैयार की थी किन्तु वर्तमान युरोपिय महायुद्ध के कारण-साधन सामग्री की अत्यधिक मंहगाई के कारण प्रकाशित नहीं करपाये।

इधर चिरू बाई राजकुंवर का असामयिक वियोग होजाने से उसकी लौकिक क्रियाओं में विशेष व्यय न करते हुए उसकी पुण्य स्मृति में कोई स्त्रियोपयोगी कार्य करने की मेरी इच्छा हो रही थी कि यह पुस्तक मेरे निगाह में आगयी देखने से स्त्री जाति के उत्थान में, उनको अपनी वास्तविक स्थिती का भान कराने में तथा अपना धर्म कर्म समझने समझाने में अत्युपयोगी मालुम हुई इसलिये यह पुस्तक बाई की पुण्य स्मृति में प्रकाशित करता हूँ।

यहां यह प्रकट करना भी उचित प्रतीत होता है कि उक्त पुस्तक का मेटर श्रीयुत बालचन्दजी ने सहर्ष निःशुल्क दे दिया है एतदर्थ में उनका आभार मानता हूँ।

प्रकाशकः

आभार प्रदर्शन

कोई भी लेखक साहित्य तैयार करता है तो उसे किसी न किसी प्रमाण भूतसाहित्य-या-वक्ता का आधार लेना ही पड़ता है विगेर आधार लिये तो-अतिशय ज्ञानी ही स्वतन्त्र प्रति पादन कर सकते है। श्री मज्जौनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिर लालजी महाराज साहब के सुशिष्य-श्री श्रीमलजी महाराज सं० १९९० में दक्षिण पधारते समय यहां बिराजे थे-उस समय भावना धिकार में-यह कथा गरबी सहित गायन करके फरमाई थी तब मेरे हृदय में यह स्फूरणा हुई थी कि ऐसी कथा ओं को साहित्य के रूप में जनता के समक्ष-रखी जाय तो संसार को और खास कर स्त्री जाति को अधिक लाभ हो सकता है क्यों कि हिन्दु जाति में से हलकी मानी जाने वाली ओड जाति में भी ऐसी २ वीरांग-नाएं हुई है जिन्होने अपूर्व त्याग का उच्चादर्श रख कर-अपने पति व्रत धर्म की रक्षा की है तब आज उच्च हिन्दु जाति में उत्पन्न हुई स्त्रियों को क्या करना चाहिये और क्या कर रही है इसका बोध पाठ मिले। परन्तु कुछ समय तक तो वह स्फूरणा यों ही रही बाद भाव नगर से प्रकाशित होते हुए जैन पत्र के भेंट स्वरूप "शान्तु महेता" के भाग आये उनको देखने पर तीसरे भाग में कुछ प्रकरण "सती जसमा" के पढने में आये वे पढते ही इसे ठीक साहित्य रूप में चित्रित करने की मेरी इच्छा बलवती होती

गई और उससें मुझे अपने सन्तोष दायक सामग्री भी दिखाई दी तब मैंने इस विषय में कार्यारम्भ किया बाद श्री जैनहितेच्छु श्रावक मंडल में श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब के व्याख्यानों मे से भी मुझे काफी सामग्री उपलब्ध हुई है इससे कुछ ही समय में लिख डाली थी किन्तु जब यह कथा पूर्ण हुई वर्तमान विश्व युद्ध का प्रारम्भ हो चूका था और कागज का रेट बढने लगा था तब इसे प्रकाशित करने के लिये विचार स्थगित रखा। किन्तु जब किसी कार्य का समय आता है तब वैसे ही निमित बन जाते है।

श्रीमान् स्वर्गीय सेठ वरदभाणजी साहब की पुत्री राजकुंवरबाई का स्वर्गवास होने पर इनकी माता श्रीमती सेठाणी जी आणन्दकुंवरबाई ने बाई की पुण्यस्मृति में कोई कार्य करने की इच्छा-प्रदर्शित की मैंने यह साहित्य स्वर्गीय बाई राजकुंवर की पुण्य स्मृति में प्रकाशित कराने की सम्मति दी उसको आपने स्वीकृति दी है इससे प्रकाशित हो रही है। अन्त में उन सब सज्जनों का में आभार प्रदर्शित करता हूँ कि जिन २ के साहित्य से मैंने इस कार्य में सहायता प्राप्त की है।

इत्यलम्

श्री जैनहितेच्छु श्रावक मंडल
चांन्दनी चौक रतलाम
मि० आषाढी पूर्णिमा सं० २००१

भवदीय
बालचन्द श्री श्रीमाल

विषयानु क्रमणिका

संख्या	नाम	पृष्ठ से तक

प्रूफ संशोधन करते हुए भी असावधानी से कुछ २ भूलें रह गई हैं सो सुधार कर पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	परन्तु	०	५१	३	तरात	तटात
३	२	नरीक्षक	निरीक्षक	५१	३	सन्दृश्यतां	सन्दृह्यतां
३	६	उठे	उड़े	५२	७	जाति	जाता
५	१४	एव	एवं	५२	१५	स्मृतिपरस	स्मृतिपट
८	२	मनोने	मनोन	६४	५	बैठें	बैठ
८	८	विकत	विकृत	६८	१६	पिछा	पिछला
१२	१०	देते हुए	देती हुई	७५	१०	बालद	बलद
१८	१६	मान	भान	८७	११	छोड़ाना	छोड़ना
२६	३	प्रत्युर	प्रत्युत्तर	८७	१२	छोडना	छोडाना
३६	११	मार्र	मीर	८६	१४	भोनलदेवी	मीनलदेवी
३६	१८	लोगों का	लोगों की	६१	७	स्तसाध्ध	स्तब्ध
४०	५	जाते हैं	हो जाते हैं				

इसके सिवाय सबसे बड़ी भूलें तो कई जगह पैरा बदलने, तथा वाक्यों को ठीक रूप में जमाने की है जिससे भाव समझने में गरबड़ हो जाती है। परन्तु वह शुद्धि में नहीं दी जा सकती। क्षंतव्यम्।

सम्पादक

कविता

शाखी— महेस पड़े मन्दिर पड़े, पड़े नाम नेठाम ॥
एक पड़े नहीं जगत में, यश कीर्ति अभिराम. ॥ १ ॥

(पूनमचान्दनी की चाल में)

गरवी—गाजे पाटणपुरमां गरवी गुर्जरनो धणीरे,
सांचो सबलो पेलो सोलंकी सिद्धराज,
जैनी कीर्ति व्यापीरही छे आजगमांघणीरे ॥ १ ॥

तेणे लोको काजे वाव कुवाबंधावीयारे
मोटा मान सरोवर देवल धाम विशाल,
पोषी सर्व प्रजा ने शत्रु सर्व नभावीयारे ॥ २ ॥

शाखी— धैर्यवान गुणवान छे, शूरवीर नीतिमान् ।
सोलंकी सिद्धराज ए गिरवागुण नी खाण ॥

गरवी— तेणे पाटणपासे एक सरोवर आदर्युंरे
खोदे खाड़ात्यांतो मालवी ओड अनेक,
ओडणो पालेनांखे सारी माटी टोपलारे ॥ ३ ॥

शाखी— ओडकेरी नारीओ, ज्यांकरतीनानारंग ।
हंसती कुदती दोड़ती, रेलती प्रेम अभंग ॥

गरवी— पाले वडनी डाले झूले बालक पारणेरे,
माटी लेतां जसमा झूलावे निजबाल,
बलतां मुखडुं पेखी जाय कुंवर ने वारणेरे ॥ ४ ॥

शाखी— प्रेम तालाब जसमातणो हिबकेछालमछोल ।
हाथेभूलावे वालने, हियड़ेमोहनमोर ॥
गरबी— सादेवेशेकरतां राजाए देखी परीरे;
जाते रूपाली रंगीली परम चतुर,
पासेजइनेराजाकहेछेसुणतूं सुन्दरीरे ॥ ५ ॥
शाखी— जसमानेदेखीकरी,राजाभूल्यो भान ।
अणविंधायाऊरने कोणमारेछेबाण ॥
सिद्धरा— मांटीवहेवाने आकोमलकायाकरीनथीरे,
पालेबेसीने तूं रींजव तारो बाल,
बीजी ओडणो छे काम करे तारी वतीरे ॥ ६ ॥
शाखी— नरमसुंहालीदेहडी, सीदनेतूं कर माव ॥
लडावलाडेवालने, लेलाखेणो लाव ॥
जसमा— जसमा कहे छेराजन्, काम करी खावुंगमेरे
सुभनेबेसीरहतां वाधे अंगेरोग-
मारानवरादहाड़ा बेठेनवीजाएकदीरे ॥ ७ ॥
शाखी— ल्हावहमारोवालछे, उरमांछेपतिभाव-
हैयुं सुंहालुं होयत्यां, शुं कायानुं काम ॥
सिद्ध— जसमा जंगलमां वसवाने तूं सरजीनथीरे
मारानगर तणो तूं आवीने जो नोक,
पाटण पुरनीशोभा हुं तुजनेशीकहुंरे ॥ ८ ॥
शाखी— वसे जंगलमांहरणिया, वसे वाघने नाग ।

जसमा बनमांसिदने वसेनी सुन्दर बाग

जसमा— राजा अन्धारी शेरी ने ऊंची मेड़ियोरे,
तेमां माणसमाटे चाल्यानोनहीमार्ग,
जाणे ऊनाले उभराती देखु'कीडीओरे ॥ ९ ॥

शाखी— वसेव्हालनीवाघणो वसेसिंही सुजाण ॥
शुंवसीजाणेजंगले बीकणनरनादान ॥

सिद्ध— जसमामाणसबहुदेखीनेतू'घेलीबनेरे-
ताराहलकामनमांऊठे हलकाघाट
नकले खांखरानी खिस कोली शाकरस्वादनेरे ॥ १० ॥

शाखी— शहरीजनना सुखनी-कीडीने शु'भान ॥
खर शाकरने अवगणे-सुणेन मींठुंश्वान ॥

जसमा— राजामेलामन माणसना मेला शहेर नारे,
मेली गलियोंमां वहुमारे छे दुर्गन्ध ॥
मेला जहरतणाजीवो छे जीवेजहर मांरे ॥११॥

शाखी— निर्मल खीसकोलीअहा डेडकने न सुहाय ॥
कादव भोगी वापड़ा कादवमांमलकाय ॥

सिद्ध— जसमा राजाना दरबारो तें जोया नथीरे,
तेमां बाग बगीचे खील्या छे बहु फूल,
जलना होज फू'वारा ऊडे आवीजो सहीरे ॥१२॥

शाखी— ऊंचो गढ़ दरबारनो, गोखे गोरी गाय,
जाणो स्वर्गनी सुन्दरी, रही अहीं लोभाय ॥

जसमा— राजा जंगल आगल बाग बगीचा धूल छेरे,

जेवो सूरज आगल तारानो चिलकाट,
मारा जंगलनी मोजूंतो मोघे मूल्य छेरे ॥१३॥
शाखी— सोना ने कदि पांजरे, मेना जो पुराय ॥
खातां पीतां झंखती जंगल नी वनराय ॥
सिद्ध— जसमा जंगलनी वातो तूं आज विशारजैरे,
मीठा नरघाने सारंगी केरासूर,
गायन सुणवाने काजे तूं म्हेले आवजेरे ॥१४
शाखी— महले महले माननी, छे गाने गुलतान ॥
तेने नयण निरखवा, भूलो जंगल भान ॥
जसमा— राजा नव रीझुं नरघा सारंमी सूरथीरे,
मेना मोर पपैये टेव्या छे मुझकान,
वातो कोयलनाटहुकानी तो हुँकहेती नथीरे ॥१५॥
साखी— जड मां राचे जड धीया, चेतन चेतन तान ॥
मुझ भावे छे कोकिला करती पंचम गान ॥
सिद्ध— ओडण आवो तो उतारूं मन्दिर मालियेरे,
रहजो मित्र सहो दूर सर्व सम्बन्धों साथ,
तमोने प्रियजनो मानीने निशदिन पालशुं रे ॥१६॥
साखी— राज्य भुवने आवीवसो, वननी छोड़ी आश ॥
हेमहिंडोले हिंचजो, माणो दिव्य विलाश ॥
जसमा— ओडण ने उतरवाजोइये झुंपडीरे,
मेडीमाले चढ़ता मुझने आवेफेर,

पडतां पग भांगेने काया थई जाय कुबडीरे, ॥१७॥

साखी— वडवड़ाई वडलातणी, ममहिंडोलाखाट ॥
वृक्षवेली आवास छे, शुं कहुँवननी वात॥

सिद्ध— ओडण आवो तो पिरसाऊं मेवा चूरमारे,
झुले हाथी घोड़ा गुजरपतिने द्वार,
तेने पेखीने हर्षाशो ओडण ऊरमारे ॥१८॥

साखी— सोना केरा थाल ने, रत्न जड़ित बाजोट ॥
जमो रमो जसमाप्रिये, मुकीमननी छोत ॥

जसमा— राजा ओडण ने व्यालुजोइये घेसनारे,
राजा शुंछे मारे हय हाथी नु काम,
दहीं ने दुध मजेना मारे भुरी भेंसना रे ॥१६॥

साखी— पामीपोषणनीरनुं फूलथी वेला छवाय ॥
पामीपोषणत्तीरनुं, तेजपले करमाय ॥

सिद्ध— ओडण मांगील्योने आछाशालु ओडनारे,
हीरा माणेक मोती सोनाना सिणगार,
आवी कंचन वरणी काया पर शोभेघणारे ॥२०॥

साखी— हीरा कसी जरियन तणा रेशमी चोली चोक ॥
ओडण ओढ़ोहोंसथी ते विन जीव्यु फोक ॥

जसमा— राजा जाड़ाटकसे आछातो फाटीजसेरेफो
नाखुं घास चणोठी गंठीकंठे हार,
हीरा मोतीने सोना मां तस्कर भयवशेरे ॥२१॥

साखी— झीणावालिम हाथना, जाड़ा ओढ़ूं ओढ़ण ।
पतिथी कांई वालूं नथी, रेशमी जरीयनमेन ॥
सिद्ध— जसमा कहे तू मुझने केवोछे तारो पति रे,
तारा जेवी समजु नारी जेने घेर ॥
एना जेवो सुखियो आजगमां बीजोनथीरे ॥२२॥
साखी— तुजवालिमनीवातड़ी, देमुकी मनमेल ।
प्रेमी युगल ने आंगणे, छेसदारंग रेल ॥
जसमा— पहेलो केड कसीने काम करे मारो पति रे,
जेनामोलीडामांव्हेके छे बहुफूल ॥
जेनी कोदाली ना घाथी धरती धूजतीरे ॥२३॥
साखी— वात कहुँ शुं व्हालनी, मुख थी कही न जाय ॥
समजु होतो समझ जो, आ नयणे वरताय ॥
सिद्ध— जोने कामकरंतां जुएए ताराभणीरे ।
ऐनामनमां तारो पुरो नहीं विश्वास ॥
तारी बुझ नजाणे जसमाए तारो पति रे ॥२४॥
साखी— गामडियो गुण चोर ते, शुं जाणेप्रेमनी रीत ॥
व्हेमीए छे मेलड़ो शुं चाहे तुज चित ॥
जसमा— राजा साचाने भय लेश नथी संसार मांरे ।
मारा पति ने मारो पुरण छे विशवास ॥
हुँ तो अन्य जनो ने भाई गणी रहुँ भारमांरे ॥२५॥
साखी— चिवडुंतो में आपियुं गामडिया ने हाथ ॥

मुज उर गगने ना दिसे, एविण्दुजोनाथ ॥

राजा— जसमा राजा अरू राणा ने हुँ तावेकरूं रे,
मोटा महारथी पण सामे न आवे बोल,
तोपण तारा उपर हुक्म कदी नहीं आदरू रे ॥२६॥

साखी— जसमा वसमा रायने कही दे दिलनी वात ॥
जोर नथी ताराकने नहीं करतो उत्पात ॥

जसमा— राजा कायाने माया पर बल नृपनु वस्युंरे,
प्रभूए जीव धरयो छे जूदो काया मांथ ॥
मारे भूप तणुं बल तेपर नव चाले कशु रे ॥२७॥

साखी— मनडु आ तनमां नथी, मन थी दूरे नूर ॥
मारा वालिम ऊरमां, वसे सदारसपुर ॥

सिद्ध— जसमा द्रढता तारी देखी विस्मय थाय छेरे ॥
आवा दम्पतिने पण आखिर होय वियोग ॥
मिथ्या आजगना सुख मारे मन मुंजाय छरे ॥२८॥

साखी— नेकटकेधारी सती धन्य २ अवतार ॥
दम्पति केरा दिलमां सत्य प्रेम प्रचार ॥

जसमा— राजा कोई न जाणे काले मारू शु थसेरे,
एवी अल्प जिन्दगी माणे आ सौ लोक,
रूढी रेणी सुख परलोके पूरण आपशेरे ॥२६॥

साखी— जुठो आ संसारछे, झुठो जग व्यवहार ॥
सांची स्वामि सेव छे, सत्यएज संसार ॥

सिद्धराज—जसमा पहेलुं के आवीजुं परणित ताहरेरे,
ओडण के वो तारो स्वामि प्रत्ये प्रेम ॥
मारा महेल थी सुख छे केवुँ तारे मुँ पडेरे ॥३०॥

जसमा—राजा आलोके परलोके मारोये पतिरे,
प्रितेपरण्यां माटे छोडूँ मारा प्राण
एना शत्रुनुँ हुँ मुख कदी जोतीनथीरे ॥३१॥

एवुँ कहीने जसमा टोपलुं लेइपाछीफरीरे,
राये लीधोवलतो पाटण केरो पंथ,
थईछे जसमा ना पतिव्रत नी खातरीरे ॥३२॥

राजा जसमानीरस्मी थी विव्हल तो थयोरे,
निसदिन आवे मनमां जसमाना विचार,
एनी मुख तरसने निद्रा सहुँ ऊडी गयारे ॥ ३३ ॥

लालचदेई जसमा ने वश करवा उतर्योरे,
वल थी करवी मारे एने मुज आधीन,
एवो पापी निश्चय राजा ए मनमां कर्योरे ॥ ३४ ॥

अहिंआ जसमा ए पण वात वधीपतिने करीरे,
कलियुग वासियो छे आ राजाना उरमांय,
आवे ठेकाणे ते रहेवुं लाजिम जरीनहीरे ॥ ३५ ॥

वीजा ओडलोगो सहु आवाते दुखिया थयारे,
आव्यो ते सर्वेनो राजा उपर रोश

मोटापरोडमां सहु पाटण छोडी निसर्यारे ॥ ३६ ॥

राजा बीजे दहाड़े जसमा ने जोवा गयोरे,
कीधु जसमा साटे असमानु दर्शन,
एने क्रोधाग्नि नो जोर सर्वांगे व्यापियोरे ॥ ३७ ॥

राजा दुर्बुद्धि थी जसमानी पुंठे पड्योरे,
साथे सर्वे सजेला लीधा घोडेश्वार
अधवचरस्ते राजा ओडो ने जाई अड्योरे ॥ ३८ ॥

रूड़ा ओडो शुरा टेकी मालव देशनारे,
हलका मजूर छतां जातिनो अभिमान-
जसमा खातर सौ ए आव्या मरण आवेशमांरे ॥ ३९ ॥

आपणे जीवतां राजा जसमा ने शुं लईजशेरे,
इज्जत जातां जीवतर धिकमल्युं गिणाय
परहित मरतां प्रभू स्वर्ग तणां सुख आपशेरे ॥ ४० ॥

जसमा अड़ग उभी रही राजा ने विनति करेरे,
राजा रंकजनोने सिदसंतापे आम
हूँतो पूज्य भाव थी पितागणी ने ऊचरूंरे ॥ ४१ ॥

राजा रक्षक थई शीद भक्षक थाए असतणोरे,
नथी नथी घटतो नृप ने आवो अत्याचार ।
तारी उज्वल कीर्ति जोतामां झांखीथशेरे ॥ ४२ ॥

म्हारे तो राजा के महाराजा आ मारो पतिरे,

मालिक तन मन नो मुझ ऊभो आ भरथार,
बापु केडो मूको छोरु ने जावा दीओरे ॥ ४३ ॥
अन्तर पत्थर सम राजा नु कहीं नही पिगल्युंरे,
हुकम कीधो ओडोंनो करवा संहार,
जो जो जसमा नें कंई आलजरी आवेनहो रे ॥ ४
ओडो लडतां लडतां प्रथ्वी पर पडीगयारे,
छेवट भाले मार्या बाप बालक रणठार
छुपुं खंजर काढ़ी जसमात्यां एम उचरीरे ॥ ४५ ॥
थोभो थोभो स्वामि एकलड़ा जासोनहीरे,
स्वर्गीय सुखमां मारो सरखे सरखो-भाग
आपणवेलडे वंधायांतो साथे जसु रे ॥ ४६ ॥
खंजर निज उदरमा जसमा ए भोंकी दीधुं रे,
हा' हा' करतो राजास्तब्ध थयो तेवार
एनुं राजतेज निस्तेज बनीगयुं आ समेरे ॥ ४७ ॥
पापी पाणी तलावे टकशेनही कदी जरीरे,
पुरुँवंधायेलुं नहीजोसे निरधार-
एवो श्राप आपियो जसमाए छेली वड़ीरे ॥ ४८ ॥
कीर्ति जसमानी आगुजराते गाजीरहीरे,
सति ए कीयो पतिसह स्वर्ग विषे संचार-
राजा हाथ घसन्तो विले मुख पाछोफर्योरे ॥ ४९ ॥

नोट:—यह गरवी गुजराती भाषा में है। जैसी किताब में देखी वैसी ही यहां दी है भाषा नहीं बदली है।

सम्पादक

प्राक्कथन
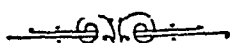
भारत वासियों को संसार के सामने अपना शिर ऊंचा रखने का जो गौरव प्राप्त हुवा है वह बड़े २ वीर पुरुष तथा पवित्रात्मा वीरांगनाओं के कारण ही।

भारत एक धर्म प्रधान देश है। इसने समस्त संसार को धर्म का जो शिक्षा पाठ पढ़ाया है वह केवल अक्षरीय ज्ञान के रूप में ही नहीं, किन्तु त्याग (चरित्र) का ऊंचा आदर्श संसार के सामने रख कर ही।

तीर्थ कर जैसे धर्मावतारों को, चक्रवर्ती वासुदेवादि कर्मावतारों को, (जो नैतिक धर्म के सर्जक व मर्यादा पुरुषोत्तम माने जाते हैं।) तथा अनेक युग प्रधान पुरुषों को जिन्होंने धर्म की मर्यादा कायम रखने के लिये हंसते २ अपने प्राण दे दिये एवम् और भी अनेक वीर पुरुष एवं वीराङ्गनाओं को जन्म देने का गौरव भी इसी भारत भूमि को है। जिन महापुरुषों व सतियों के कारण इतिहास के पन्ने स्वर्णाक्षरों से सुशोभित हैं उनमें "सती जसमा ओडण" का नाम भी अजब दमक दे रहा है वह संसार व्यवहार में नीची जाति समझी जाने वाली होने पर भी उसकी पवित्रता, इन्द्रिय संयम और वीरता विशेष अनुकरणीय है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दि की यह घटना है कि गुजरात के पाटनगर "पाटण" के महाराजा सिद्धराज सोलंकी ने एक तालाब बनवाना प्रारम्भ किया था जिसकी खुदाई करने के लिये

मालवान्तर्गत डूंगर प्रान्त से ओड लोगों को बुलवाया गया था उनमें 'टीकम' ओड और उसकी पत्नी जसमा ओडण भी थी।

जसमा युवति होने के साथ २ सुन्दराकृति भी थी। जिसको तालाब की पाल पर मिट्टी डाल कर आती हुई गुर्जर सम्राट् महाराजा सिद्धराज ने देखी। देखते ही उस पर मोहित होकर उसको अपने महलों में लेजा कर रानी बनाने के लिये महाराजा ने कई प्रकार से अनुनय करते हुए अनेक प्रलोभन दिये परन्तु जसमा उन प्रलोभनों में जरा भी न फंसी सती का जवाब सुनकर महाराज को भी दंग रह जाना पड़ा। जब कोई दूसरा उपाय शेष न रहा तो सती ने-अपने नैतिक धर्म पर अडिग रहकर इन्द्रिय संयम और वीरता का परिचय देते हुये अपना बलिदान देकर संसार के सामने स्त्री धर्म का उच्च आदर्श उपस्थित किया है।

जसमा का जीवन तो पवित्र था ही परन्तु उसमें इन्द्रिय संयम और मनोबल भी उच्च कोटि का था। क्योंकि महाराजा सिद्धराज ने उसे लुभाने के लिये खान-पान, वस्त्राभूषण, गान तान, महल मन्दिर आदि पदार्थों का आमन्त्रण किया था। इतना ही नहीं अत्याग्रह भी किया था परन्तु वह अपना जीवन पवित्र बनाये रखने के लिये इन पदार्थों को विघ्न रूप समझती थी इसलिये उसने उन्हीं भोग्योपभोग्य पदार्थों को व जंगल के रहवास को महत्व दिया जिनसे कि अपना जीवन पवित्र बना रहे। आज उत्तम उत्तम घराने की स्त्रियों ने अपना खान पान रहन-सहन इतना बिगाड़ दिया है कि यद्यपि वे पवित्र जीवन

बिताती होंगी परन्तु लोक व्यवहार में उनका जीवन शंका शील ही माना जायेगा ।

धर्म रक्षा व कर्त्तव्य पालन-सादा वेष भूषा और सादगीपूर्ण रहन सहन से ही बन आता है नखरे वाली पोशाक से नहीं। अब तो अनेक उत्तम जाति कुलकी अङ्गनाएं अपने खान पान, मोज शोक तथा ऐशो आराम के पीछे अपने धर्म कर्म को ही भूल रही हैं । और अपनी जाति, समाज और देश को कलंकित कर रही है। इतना ही नहीं मोका पड़ने पर कायरता का परिचय देकर गुंडाओं की शिकार बन जाती हैं। जरासा विकट प्रसंग देखते ही वे खुद तो घबरावें ही पर कुटुम्ब के मनुष्यों को भी घबरा कर उन्हें हिम्मतहार बना देती हैं। उनके लिये जसमा का यह चरित्र बोध पाठस्वरूप बनेगा ।

जसमा महाराजा के डराने धमकाने पर भी क्षुभित होकर अपना आपा न भूली परन्तु द्रढ़ता के साथ जैसा का तैसा जवाब दिया जिससे महाराजा भी आगे बढ़ने का साहस न कर सके और न बलात्कार ही। साथ ही साथ इस चरित्र में गुजरात के महामंत्री शान्तु महेता की विवेक शीलता, दूरदर्शिता,एवं प्रत्येक बात की सावधानी आश्चर्योत्पादक है। महाराजा के कृपा पात्र होने पर भी हां में हां न मिलाते हुए महाराजा के पंजे में फंसी हुई जसमा को मुक्त कराने के लिये निर्भीकता पूर्ण सत्य २ सुना देना कम महत्व की बात नहीं है। ऐसे मंत्री जिस राज्य में हो वह राज्य, वह देश संसार में उन्नत क्यों न हो।

यद्यपि उस समय भारत में यवन बादशाहों का प्रवेश हो चुका

मालवान्तर्गत डूंगर प्रान्त से ओड लोगों को बुलवाया गया था उनमें 'टीकम' ओड और उसकी पत्नी जसमा ओडण भी थी।

जसमा युवति होने के साथ २ सुन्दराकृति भी थी। जिसको तालाब की पाल पर मिट्टी डाल कर आती हुई गुर्जर सम्राट् महाराजा सिद्धराज ने देखी। देखते ही उस पर मोहित होकर उसको अपने महलों में लेजा कर रानी बनाने के लिये महाराजा ने कई प्रकार से अनुनय करते हुए अनेक प्रलोभन दिये परन्तु जसमा उन प्रलोभनों में जरा भी न फंसी सती का जवाब सुनकर महाराज को भी दंग रह जाना पड़ा। जब कोई दूसरा उपाय शेष न रहा तो सती ने-अपने नैतिक धर्म पर अडिग रहकर इन्द्रिय संयम और वीरता का परिचय देते हुये अपना बलिदान देकर संसार के सामने स्त्री धर्म का उच्च आदर्श उपस्थित किया है।

जसमा का जीवन तो पवित्र था ही परन्तु उसमें इन्द्रिय संयम और मनोबल भी उच्च कोटि का था। क्योंकि महाराजा सिद्धराज ने उसे लुभाने के लिये खान-पान, वस्त्राभूषण, गान तान, महल मन्दिर आदि पदार्थों का आमन्त्रण किया था। इतना ही नहीं अत्याग्रह भी किया था परन्तु वह अपना जीवन पवित्र बनाये रखने के लिये इन पदार्थों को विघ्न रूप समझती थी इसलिये उसने उन्हीं भोग्योपभोग्य पदार्थों को व जंगल के रहवास को महत्व दिया जिनसे कि अपना जीवन पवित्र बना रहे। आज उत्तम उत्तम घराने की स्त्रियों ने अपना खान पान रहन-सहन इतना बिगाड़ दिया है कि यद्यपि वे पवित्र जीवन

बिताती होंगी परन्तु लोक व्यवहार में उनका जीवन शंका शील ही माना जायेगा ।

धर्म रक्षा व कर्त्तव्य पालन सादा वेष भूषा और सादगीपूर्ण रहन सहन से ही बन आता है नखरे वाली पोशाक से नहीं। अब तो अनेक उत्तम जाति कुलकी अङ्गनाएं अपने खान पान, मोज शोक तथा ऐशो आराम के पीछे अपने धर्म कर्म को ही भूल रही हैं। और अपनी जाति, समाज और देश को कलंकित कर रही है। इतना ही नहीं मोका पड़ने पर कायरता का परिचय देकर गुंडाओं की शिकार बन जाती हैं। जरासा विकट प्रसंग देखते ही वे खुद तो घबरावें ही पर कुटुम्ब के मनुष्यों को भी घबरा कर उन्हें हिम्मतहार बना देती हैं। उनके लिये जसमा का यह चरित्र बोध पाठस्वरूप बनेगा।

जसमा महाराजा के डराने धमकाने पर भी क्षुभित होकर अपना आपा न भूली परन्तु द्रढ़ता के साथ जैसा का तैसा जवाब दिया जिससे महाराजा भी आगे बढ़ने का साहस न कर सके और न बलात्कार ही। साथ ही साथ इस चरित्र में गुजरात के महामंत्री शान्तु महेता की विवेक शीलता, दूरदर्शिता, एवं प्रत्येक बात की सावधानी आश्चर्योत्पादक है। महाराजा के कृपा पात्र होने पर भी हां में हां न मिलाते हुए महाराजा के पंजे में फंसी हुई जसमा को मुक्त कराने के लिये निर्भीकता पूर्ण सत्य २ सुना देना कम महत्व की बात नहीं है। ऐसे मंत्री जिस राज्य में हो वह राज्य, वह देश संसार में उन्नत क्यों न हो।

यद्यपि उस समय भारत में यवन बादशाहों का प्रवेश हो चुका

था फिर भी भारत के लोग परतन्त्र और पराधीन नहीं बने ; वे अपने देश व धर्म की रक्षा करने में कटिबद्ध थे। गुंडाओं से डर कर जान बचा लेना पसन्द नहीं करते थे अपितु वीरता पूर्वक मुकाबला करके हंसते २ प्राण दे देना अपना कर्तव्य मानते थे। 'शान्तुमहेता' क्षत्रिय नहीं अपितु वणिक* कौम का था और जैन धर्मी श्रावक था आचार्य श्री देवचन्द्र सूरि का उपासक था वह दोनों समय प्रति क्रमण तथा धर्माराधन करता था और देश रक्षा के लिये प्रसंग उपस्थित होने पर शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध में भी उतर जाता था उत्तर में काश्मीर तक जाकर जिसने तलवार बजाई थी और गुजरात को महागुजरात बनाने की चेष्ठा की थी।

ऐसे २ पुरुष व ऐसी २ स्त्रियें ही देश और धर्म की रक्षा कर सकते हैं जब ओड़ जैसी सामान्य हिन्दु जाति में भी इस प्रकार का धर्माभिमान था तो उस समय की भारतीय उच्च जातियों में धर्माभिमान और सत्व रक्षा किस सीमा तक पहुँची हुई होनी चाहिये यही विचारणीय है।

अन्त में भारत के सपूतों और सन्नारियों से आग्रह करता हूं कि वे फैसन की फांसी को काटे और अपने धर्म की रक्षा के लिये इस आदर्श चरित्र को पढ़े और वे भाव अपने में भरे जिस से अपने धर्म कर्म की रक्षा करने में समर्थ बनसके। इत्यलम् —लेखक

---

*यहां वणीक से मतलब वणीया बक्काल का नहीं परन्तु वाणिक का अर्थ हरएक उच्चनीच स्थिति में बना रहे उन्नति के समय अहंकार में आकर फूले नहीं और अवन्नत में अधीर नहीं बने वही सच्चा वणिक है।

१

भारतीय आदर्श नारि

अर्थात्

सती जसमा
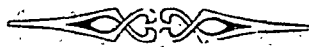
सहस्त्रलिंग तालाव

प्रथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम् ॥
मूढैः पाषाण खण्डेषु, रत्नसंख्या विधियते ॥ १ ॥

(चाणक्यनीति दर्पण)

विद्वानों ने इस पृथ्वी पर तीन प्रकार के पदार्थों को रत्न माने हैं यथा—जल, अन्न और सुभाषित (वाक्य) क्योंकि इनके द्वारा संसार का कल्याण हो सकता है, प्राण धारण किये जा सकते हैं, और जीवन आनंदमय बनाया जा सकता है। परन्तु मूढ़ लोगों ने इन रत्नों को भूल कर पाषाण के टुकड़ों को ही यानी हीरा, पन्ना, माणिक आदि को ही रत्न संख्या दे रखी है। परन्तु ये रत्न तो जीवन को सुखी बनाने के बदले कई दफा महा दुखी बना देते हैं। पर जल अन्न और हितकर वचन का प्रयोग तो महा-पुरुष भी करते हैं इसलिये पूर्वकाल के नृपति (राजा) प्रजा के कल्याणार्थ ऐसे स्थानों की अपने राज्य में सुविधा करते रहते थे जो इस प्रकरण में दिखाई देंगे।

कामजल्दी और फुर्ती से करो

निरीक्षक ने कहा।

जल्दी कैसे करें बापू ?

बेलदार बोला।

कुदाली के दो प्रहार ज्यादा मारो और दो टोकरी ज्यादा उठवाओ।

यदि ऐसा न हो तो ?

बेलदार ने प्रश्न किया

पैसे कट जावेंगे।

निरीक्षक ने रूखाई का प्रदर्शन किया।

हम दिन (दाडखी) मजदूरी नहीं करते हैं बापु ? काम (उधड़ा) और ठेके में लिया है। बेलदार ने वास्तविकता को

हां उधड़ा लिया इससे अपनी मरजी मूजिब करना क्या ? ऐसा नहीं चलेगा, मजदूरी नहीं मिलेगी। नरीक्षक ने कहा।

नहीं मिलेगी तो हम लोग खाएंगे क्या बापु ? ऐसा कहते कहते बेलदार ने कुदालीका एक प्रहार जमीन पर किया। मिट्टी का एक बड़ा ढेफा उखड़ आया। उस पर आड़ी कुदाली मारने से ढेफा मिट्टी के रूप में परिणित हो गया और चारों ओर रजकण उठे।

हाँ! काम ऐसे होता है। तुम काम जल्दी करोगे तो पैसे भी जल्दी मिलेंगे और उतने ही मिलेंगे परन्तु खोदने वालों को इतनी बात सुनने का भी अवकाश कहां था और जरूरत भी क्या थी।

बेलदार ने पास में मिट्टी का ढेर पड़ा हुआ देख कर वुम मारी-अरे! कहां गये सब ?

यह रही। पीछे से एक युवती की आवाज आयी। तूही इस तरह ढील करेगी तो दूसरे तो काम करेंगे ही कैसे ? बेलदार ओड ने कहा।

छोकरा रोता हो तो उसे (हींचा) झूला भी न दूं ? युवति ने शान्ति के साथ जवाब दिया।

खोदने वाले ओड (बेलदार) के समक्ष युवति की उम्र आधी थी। दोनों के रूप और सौन्दर्य में जमीन आसमान जितना अन्तर था। परन्तु दोनों का प्रेम घनिष्ट था। दोनों परस्पर संतुष्ट थे। ओड ने कुदाली को एक हाथ में पकड़ कर एक हाथ युवति के कन्धे

पर टिकाया। उस समय उसकी दृष्टि सामने दिखाई देने वाले एक बरगद (वट) के झाड़ पर गई। झाड़ के नीचे एक झोली बनी हुई थी और उसमें एक छोटा सा बालक रुदन कर रहा था। झोली धिरे २ हिल रही थी देखते ही ओड (बेलदार) का हृदय पुलकित हो गया। आगन्तुक स्त्री के सामने एक सन्तोष भरी नजर डाल कर फिर से कुदाली को हवा में फैंकी और जमीन पर पटकी। पड़ते ही पानी में पत्थर फेंकने से छींटे उड़ें उसी तरह मिट्टी के ढेफे और रजकण चारों तरफ हवा में उड़ने लगे।

गुजरात के पाट नगर स्वरूप पाटण के महाराजा सिद्धराज सोलंकी ने राज्य दुर्ग के निकट ही एक तालाब बनवाने का कार्य आरम्भ किया था और इसके लिये महाराजा ने अच्छे २ इन्जीनियरों को बुलाकर तालाब का नक्शा बनवाया था। महाराजा की हार्दिक इच्छा यह थी कि सम्पूर्ण आर्यावृत्त में एक अजोड़ तालाब बनवाया जावे। और पाटण के प्रधान मंत्री की भी इच्छा थी कि यह तालाब सर्वाङ्ग सुन्दर एवं अद्वितीय बने। साथ ही सरोवर के किनारे पर शिक्षा-ग्रह (विद्यालय) छात्रावास और दानशाला भी स्थापित की जाय। इसलिये महाराजा के सोमेश्वर यात्रा गमन से पहले ही योजना बनाई जाकर कार्य-आरम्भ कर दिया गया था।

पूर्व समय के राजा महाराजाओं के खजाने भरे रहते थे वे आज की तरह धोवे भरभर-कर राज्य-कोष को अपने ऐशो

आराम में नहीं उड़ाते थे। परन्तु उसे प्रजा की धरोहर मानकर रखा करते थे। अपने को उस खजाने का स्वामी नहीं किन्तु बतौर ट्रस्टी मानते थे। इसलिये मौका पाकर वे कोई न कोई ऐसा स्थान बनाने का कार्य किया करते थे। जिससे गरीब निराश्रितों को तो रोजी मिल जाती थी और आम जनता उससे लाभ उठाती थी। क्योंकि वे स्थान प्रायः सार्वजनिक होते थे और शहर की शोभा-स्वरूप भी। जहाँ राजा और प्रजा सभी का आगमन होता रहता। इससे उन्हें प्रजा के सम्पर्क में अधिक से अधिक आने के कारण प्रजा के सुख दुःख जानने का अवसर प्राप्त होता रहता था और उस पर से वे प्रजा की भलाई के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न-शील रहते थे। प्रजा भी उन्हें अपने शिर-छत्र मानकर भक्तिपरा-यण रहती थी। इस तरह राजा और प्रजा के बीच घनिष्ट सम्बन्ध होकर राजा और प्रजा दोनों सुखी रहते थे। सरोवर खोदने के लिये अच्छे होशियार एवं परिश्रमी लोगों को मालवा से बुलाया गया था। और उनका मेहनताना ठहराकर काम (उधड़ा) ठेकेदारी पर सौंपा गया था। सरोवर के काम की देख-रेख करने के लिये निरीक्षक ढुधमल चावड़ा को नियत किया था। काम जड़प से और धमधोकार चल रहा था। महाराजा सिद्धराज और राज्य माता मीनलदेवी सोमेश्वर की यात्रा करके आये तब तक सरोवर की खुदाई का काम आधा होचुका था और शेष कार्य भी शीघ्र ही पुरा करने की ताकीद हो रही थी। सरोवर खोदने वाले बेलदार ओड जाति के थे। ये सब मालवान्तर्गत डूंगर प्रान्त से

सब साथ साथ ही आये थे। इससे काम स्वेच्छापूर्वक करते थे किन्तु वेगारी की तरह नहीं। ओड लोगों का सरदार टीकम खुद भी काम करता था इससे दूसरे साथी लोग भी काम चित्त लगा-कर अच्छी तरह करते थे।

ग्रहणकरने योग्य शिक्षाः—

१—इस प्रकरण में यह दिखाया गया है कि सरकारी मुसद्दी लोग वेचारे गरीब मजूर वर्ग पर अपना रोब गालिब करने के लिये किस प्रकार धोंस और डाट-डपट देते हैं तथा उनको अनुचित रीति से तंग करते हैं। २—पूर्व काल के महाराजा राज्य कोष को अपनी निजि सम्पत्ति नहीं मान कर बतौर ट्रस्टी के रक्षा करते थे तथा उसे प्रजा के हित में ही खर्च करते थे और इस तरह राज एवं प्रजा का सम्बन्ध प्रतिदिन घनिष्ट होकर एक दूसरे के सुख दुःख के संविभागी बनते थे। आज महीनों और वर्षों तक प्रजा को राजा लोगों के दर्शन ही नहीं होते, न एक दूसरे के वास्तविक सुख दुख को जान ही सकते। अपितु कर्मचारी लोग उलटी सुलटी कह कर राजा और प्रजा में किस प्रकार मनमुटाव करादेते हैं। जहां राजा और प्रजा का सीधा सम्बन्ध है वहां दोनों तरफ का कुशल है और उसी राज्य की उन्नति है।

२
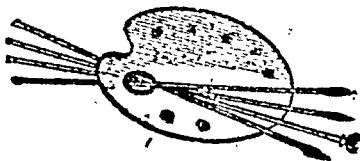
पूर्व स्मृति और मोह का उद्भव
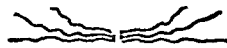
मनुष्य तभी तक नीतिमान, धर्मपरायण और धर्मात्मा बना रहता है जब तक कि वह किसी सुन्दराकृति वाली मनमोहनी स्त्री को नहीं देख पाता। परन्तु जब कभी ऐसी नव-यौवना सुन्दरी अचानक देखने में आ जाय और फिर भी उसके प्रति वह ध्यान नहीं दे, उसके लिये कवि कहता है कि,

धन्यास्तएव तरलायत लोचनानां।
तारूण्यरूप पयपीनपयोधराणाम्॥

क्षामोदरोपरिलस त्रिवलीलतानाम्,
द्रष्ट्वा कृतिं विकृति मेति मनोने येषाम् ॥ १

(भर्तृहरि श्रृंगार शतक)

भावार्थ—वह पुरुष वास्तव में धन्यवाद का पात्र है जो चंचल व बड़े-बड़े नेत्रवाली, यौवन में मद-मस्त, दृढ़ एवं पुष्ट स्तनों वाली तथा जिसके दुबले व पतले उदर पर त्रिवली लता शोभ रही है ऐसी स्त्रियों की आकृति देखकर भी जिस पुरुष का मन विकत नहीं होता है। शेष तो इस प्रकार का आकर्षण सामने आते ही खिच जाते हैं और अपने गौरव को भूल जाते हैं सो इस प्रकरण में ही दिखाई देगा।

वेलदार ! तुम खुद काम न करते हुए केवल ध्यान ही रखते रहो न ?

निरीक्षक दुधमल ने कहा।

यदि ऐसा करने लगूं तो ये मेरे हाड हराम के न हो जायँ ?

वेलदार ने स्पष्ट उत्तर दिया।

दिन भर खड़ा रहना और दूसरों से काम लेना यह भी एक जात की मेहनत ही कहलाती है। दुधमल ने कहा। खड़ा रहना और बैठना यह तो आप लोगों को ही शोभे बापु ? हमारे तो कुदाली भली और धरती भली, पावड़ा भला और मिट्टी भली। दिन के समय धरती माता को धण धणाना और रात को इसी की गोदी

में आराम करना। मैं जब स्वयं काम नहीं करूं और केवल हुक्म ही चलाता रहूँ तो साथ वाले कब काम करें? जितना काम हम स्वयं करें उतना ही हमारे लाभ में है। ओड लोगों के मुखिये टीकम बेलदार ने जवाब दिया। दुधमल चावड़ा बात करता करता आगे बढ़ा कि उस की दृष्टि एक दम सामने की तरफ पड़ी जिधर से महाराजा सिद्धराज मुंजाल महेता के साथ तालाब पर पधार रहे थे। महाराज को आते देख कर वह कुछ दूरी तक सामने गया और राजसी ठाठ से उसने महाराज का अभिवादन किया व एक तरफ खड़ा हो गया।

महाराजा सिद्धराज ने सरोवर पर दृष्टि डाली तो अर्ध भाग खुद गया था।

काम बराबर चलता है न? महाराजा ने पूछा। जी.....। दुधमल ने अदब से जवाब दिया। अब कितने दिन और लगेंगे? महाराजा ने प्रश्न किया। ओड लोगों के नायक बेलदार को पूछें दुधमल बोला। चलो, कह कर महाराजा आगे बढ़े। दुधमल महाराजा के पीछे-पीछे हो लिया। दोनों ओड लोगों के नायक टीकम ओड जहां काम करता था, वहां आये। प्रातः काल जैसी ही ताकत और ताजगी से सायंकाल हो जाने पर भी काम हो रहा था। ओड़ लोगों की कुदालियें जमीन को भेद रही थी। ऊपरा ऊपरी प्रहारों से पृथ्वी धस धमा रही थी और उन ओड लोगों के शिशकारों के साथ ही मिट्टी के ढेफे निकल आते थे। प्रस्वेद के

बिंदुओं से उन ओड लोगोंके बदन तरबतर हो रहे थे। ऊपरसे मिट्टी के रजकण उड़ उड़ कर उनके बदन को रंग रहे थे। ओड लोगों की स्त्रियें टोकरियें भर भर कर सरोवर की पाल पर व्यवस्थितरूप से डाल रही थीं कभी २ हास्यवश थोड़ी मिट्टी लेकर अपने पति पर उछाल कर विनोद भी करती जाती थीं। इस प्रकार की मजूरी करते हुए भी आनन्दानुभव कर लेते थे। जितना सुखी और निश्चिन्त जीवन मजदूरी करनेवाले लोगों का होता है। उतना लाखों करोड़ों का धन्धा करने वाले श्रीमन्तों का भी नहीं होता। कारण वे रात दिन किसी न किसी चिन्ता में घिरे ही रहते हैं। समय पर न खाते, न पीते, न सोते, न आनन्द ही करते। रात को सोते हुए स्वप्न भी वैसे ही देखते रहते हैं। जैसी कि उनको कार्य की चिन्ता होती है। इसी से नीतिकार ने कहा है कि—

सन्तोषामृततृप्तानां, यतसुखंशान्तिरेवच ॥
नचतद्धनलुब्धाना, मितश्चेतश्चधावताम् ॥

(चाणक्यनीतिदर्पण)

भावार्थ—सन्तोष रूपी अमृत का सेवन करने वालों को जो सुख और शान्ति का अनुभव होता है। वह धन के लोभियों को नहीं कारण वे इधर से उधर भटकते ही रहते हैं।

महाराजा को आते हुए देख कर उन ओड लोगों ने भी कुदालियें उछालना बन्द कर दी और एक हाथ में कुदालियें थाम कर

दूसरे हाथ से महाराजा का अभिवादन किया। महाराजा भी सबका मुजरा लेते हुए खड़े रहे।

अभी कितने दिन और लगेंगे ? **महाराजा ने प्रश्न किया।**

अब अधिक दिन नहीं लगेंगे परन्तु जितने दिन लगे हैं उतने तो लगेंगे ही। और जमीन को साफ तथा एकसी करने में कुछ दिन विशेष भी लगे। ओडों के नायक ने जवाब दिया।

नहर तरफ खुदाया ? **महाराज ने दूसरा प्रश्न किया।**

नहीं बापु। यह तो सबसे पीछे लिया जायगा।

अच्छा—कह कर महाराजा आगे बढे। जाते समय सामने आती हुई एक युवति को देखी जिसके हाथ में खाली टोकरी थी और वह तालाब के किनारे पर से आ रही थी देखते ही महाराजा सिद्धराज चमके। बार बार उसको देख कर पहचान गये कि यह स्त्री वही है जिसको राजगढ़ की छत पर से उस रोज मैंने देखी थी। युवति ने अभी यौवन की सपाटी पर पैर रखा ही है अर्थात् किशोरावस्था पार करके पुरयौबनास्वथा को प्राप्त की है।

जब महाराजा सिद्धराज और राज्यमाता मीनलदेवी सोमनाथ महादेव की यात्रा से पधारे थे। तब प्रजाने बहुत ठाठ के साथ आपको नगर में प्रवेश कराया था। जगह जगह महाराजा को हार तोरादि अर्पण करके सत्कार किया था। यह ओडण भी उस रोज सवारी देखने के लिये राज्य दुर्ग की छत पर

बिंदुओं से उन ओड लोगोंके बदन तरबतर हो रहे थे। ऊपरसे मिट्टी के रजकण उड़ उड़ कर उनके बदन को रंग रहे थे। ओड लोगों की स्त्रियें टोकरियें भर भर कर सरोवर की पाल पर व्यवस्थितरूप से डाल रही थीं कभी २ हास्यवश थोड़ी मिट्टी लेकर अपने पति पर उछाल कर विनोद भी करती जाती थीं। इस प्रकार की मजूरी करते हुए भी आनन्दानुभव कर लेते थे। जितना सुखी और निश्चिन्त जीवन मजदूरी करनेवाले लोगों का होता है। उतना लाखों करोड़ों का धन्धा करने वाले श्रीमन्तों का भी नहीं होता। कारण वे रात दिन किसी न किसी चिन्ता में घिरे ही रहते हैं। समय पर न खाते, न पीते, न सोते, न आनन्द ही करते। रात को सोते हुए स्वप्न भी वैसे ही देखते रहते हैं। जैसी कि उनको कार्य की चिन्ता होती है। इसी से नीतिकार ने कहा है कि—

> सन्तोषामृततृप्तानां, यतसुखंशान्तिरेवच ॥
> नचतद्धनलुब्धाना, मितश्चेतश्चधावताम् ॥
>
> (चाणक्यनीतिदर्पण)

भावार्थ—सन्तोष रूपी अमृत का सेवन करने वालों को जो सुख और शान्ति का अनुभव होता है। वह धन के लोभियों को नहीं कारण वे इधर से उधर भटकते ही रहते हैं।

महाराजा को आते हुए देख कर उन ओड लोगों ने भी कुदालियें उछालना बन्द कर दी और एक हाथ में कुदालियें थाम कर

दूसरे हाथ से महाराजा का अभिवादन किया। महाराजा भी सबका मुजरा लेते हुए खड़े रहे।

अभी कितने दिन और लगेंगे ? महाराजा ने प्रश्न किया।

अब अधिक दिन नहीं लगेंगे परन्तु जितने दिन लगे हैं उतने तो लगेंगे ही। और जमीन को साफ तथा एकसी करने में कुछ दिन विशेष भी लगे। ओडों के नायक ने जवाब दिया।

नहर तरफ खुदाया ? महाराज ने दूसरा प्रश्न किया।

नहीं बापु। यह तो सबसे पीछे लिया जायगा।

अच्छा—कह कर महाराजा आगे बढे। जाते समय सामने आती हुई एक युवति को देखी जिसके हाथ में खाली टोकरी थी और वह तालाब के किनारे पर से आ रही थी देखते ही महाराजा सिद्धराज चमके। बार बार उसको देख कर पहचान गये कि यह स्त्री वही है जिसको राजगढ़ की छत पर से उस रोज मैंने देखी थी। युवति ने अभी यौवन की सपाटी पर पैर रखा ही है अर्थात् किशोरावस्था पार करके पुरयौवनावस्था को प्राप्त की है।

जब महाराजा सिद्धराज और राज्यमाता मीनलदेवी सोमनाथ महादेव की यात्रा से पधारे थे। तब प्रजाने बहुत ठाठ के साथ आपको नगर में प्रवेश कराया था। जगह जगह महाराजा को हार तोरादि अर्पण करके सत्कार किया था। यह ओडण भी उस रोज सवारी देखने के लिये राज्य दुर्ग की छत पर

चढ़ गई थी और वहां से महाराजा को अर्घ्य अर्पित करने की सद्भावना से इसने भी महाराजा पर पुष्प वृष्टि की थी। उस समय महाराजा ने ऊपर दृष्टि फैलाते हुए इसे देखी थी वही स्मरण महाराजा को इस समय हो आया। उधर वह युवति (ओडणी) टोकरी में मिट्टी भर कर उठा रही थी उस समय फिर देखी उस समय उसके देह के त्रिभंग में महाराजा को सौन्दर्य का अपूर्व आविर्भाव दिखाई दिया। इस समय जो हाथ मिट्टी खूंद रहे थे, इन्हीं कोमल हाथों ने मेरे पर पुष्प वर्षाये थे। अर्थात् जो हाथ कठिन थे, उनमें भी महाराजा को कोमलता दिखलाई दी। मिट्टी से भरा हुआ उसका शरीर होली खेलने के बाद मदोन्मत दिखाई देते हुये नवयौवनासा मोहक दिखाई देने लगा।

ओडणी (जसमा) मिट्टी डालने के लिये सरोवर के कांठा तरफ चली जिसके साथ २ महाराजा का मन भी खिंचता चला। दुधमल ? महाराजा ने पुकारा। जी, कह कर दुधमल आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। ओड लोगों के नायक को कहना कि काम जल्दी से करें यह फरमाकर महाराजा मुंजाल महेता के साथ आगे बढ़े। खुदे हुए तालाव के चारों ओर चक्कर लगा कर देखा। परन्तु सब देखते हुए भी महाराजा की दृष्टि उस ओड युवति के प्रति खिंच रही थी। आखिर घूमते घामते महाराजा और महेता दोनों एक बरगद के झाड़ के नीचे आकर खड़े होगये।

ओडण मिट्टी डालकर उसी झाड़ के नीचे आई जहां महा-

राजा और मुंजाल महेता खड़े थे। महाराजा और महेता को खड़े देखकर वह शर्मागई और पीछी फिरकर जहां ओड लोग खोद रहे थे वहां आकर बोली।

आज तो बालक ने मुझे बहुत हैरान किया नींद तो लेता ही नहीं। जाती या आती बार झूला दे आना। बच्चा ही तो ठहरा ओड बेलदार ने कहा। परन्तु महाराजा खड़े हैं। ओडण ने अपनी कठिनाई प्रदर्शित की। कहां? कह कर बेलदार ने एडी उठाकर खड़े खड़े नजर डाली। महाराजा झाड़ नीचे खड़े थे और मुंजाल तालाब के कांठे खड़ा हुआ कुछ मालूम कर रहा था।

बच्चे ने अपने बाल स्वभावानुसार झोली में कुदाकुद की और रुदन करने लगा।

मैं किस तरह वहां जाऊं। ओडण युवति ने कहा। इसमें अपने को कैसी शर्म ? ओडने जवाब दिया। लज्जा नहीं आवे ? लज्जा तो स्त्री का भूषण है न। तुम भी अजब आदमी हो—कह कर मिट्टी से भरी हुई टोकरी युवति ने माथे पर उठाई और, तालाब के कांठे डालकर झाड़के नीचे रोते हुए बालक को झूला देने के वास्ते सकुचाती हुई आई।

आखिर हिम्मत करके आगे बढ़ी और बच्चे को झूला देकर टोकरी हाथ में लेती हुई महाराजा की तरफ तिरछी नजर डाल पीछे लौट चली। आगे जाकर फिर एक नजर डाली। महाराजा वहां के वहां ही खड़े हुए टकटकी लगाये सब देख रहे थे।

ग्रहण करने योग्य शिक्षा—

१—इस प्रकरण में टीकम ओड और दुधमल चावड़ा के सम्वाद में यह दिखाया गया है कि उस जमाने के लोग काम करने में ही अपना महत्व मानते थे, खाली बैठे रहने और दूसरों के ऊपर हुक्म चलाने में नहीं। इसी से उन लोगों के शरीर तन्दुरुस्त एवं बलवान होते थे। २—जीवन का जो आनन्द सामान्य मनुष्य ले सकते हैं वह श्रीमन्त और राजसी ठाठ वाले दम्पत्ति नहीं ले सकते, कारण उनका जीवन अनेक झंझटों में फंसा हुवा रहता है इसलिये समय पर जब दम्पत्ति मिलते हैं तो उनमें विकार का प्रादुर्भाव शीघ्र हो जाता है किन्तु शुद्ध प्रेम का तो अभाव सा ही रहता है। ३—स्त्री का परिचय और स्मृति एक ऐसी बलाय है कि बड़े बड़े ऋषि मुनियों को भी अपने स्थान से गिरा देती है तो सामान्य मनुष्य का कहना ही क्या। इसीलिये ब्रह्मचारी को स्त्री परिचय सहवास और पूर्व स्मरण से सदा बचते रहना चाहिये अन्यथा उसका ब्रह्मचर्य खतरे में आ पड़ता है और कई साधु नाम धराकर पतित होगये हैं। ४—लज्जा-सकुचाना और टेढ़ी होकर चलना स्त्री के भूषण हैं पर ये ही क्रिया कामी के लिये शूल है। भर्तृहरि ने भी इसे प्रमाणित किया है।

२

कर्त्तव्य पथ के साथ ही साथ लालसा का प्रभाव
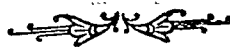
अधमाधनमिच्छन्ति, धनंमानंचमध्यमाः ॥
उत्तमामानामिच्छन्ति, मानोहिमहतांधनम् ॥ १ ॥

(चाणक्य नीति दर्पण)

भावार्थ—अधम जन धन को ही चाहते हैं। मध्यम जन धन और मान दोनों को चाहते हैं। परन्तु उत्तम जन हैं वे मान ही चाहते हैं क्योंकि मान ही उनका उत्कृष्ट धन है।

जहां मान है, प्रतिष्ठा है वहीं वे सब कुछ देखते हैं परन्तु जहां प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता हो, वहां वे न धन की परवाह करते हैं, न तन की ही किन्तु प्राणों की बाजी लगाकर भी वे संसार में स्वप्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हैं।

महाराजा सिद्धराज, भी उन पुरुषों में से थे जो उत्तम जन में माने जाते हैं इसलिये वे मालव पति के उनकी सोमेश्वर की यात्रा गमन के समय किये हुए आक्रमण का महात्मात्य शान्तु महेता ने समयानुकूल समाधान किया। उसे भी अपनी प्रतिष्ठा में कलंक मानकर उसे भूंसने के लिये क्या करते हैं सो इस प्रकरण में दिखाई देगा।

पाटण के अन्दर आज महाराजा सिद्धराज का दरबार भरा हुआ है। बड़े बड़े सरदार, योद्धा और मंत्री मंडल विद्यमान हैं। वातावरण उग्र बन रहा है महाराजा के साथ ही साथ सब सभा-सद्गण जोश में आये हुए हैं और किसी विशेष हुक्म की प्रतीक्षा कर रहे हैं केवल अन्तिम निर्णय होकर हुक्म होना ही शेष है।

महाराजा सिद्धराज और राज्य माता मिनलदेवी जिस समय सोमेश्वर की यात्रा को गये थे। उस समय मौका देखकर मालव नरेश ने पाटण पर धावा बोल दिया था। बहुत सैन्यबल महाराजा के साथ गया हुआ था इसलिये पाटण में सैन्यबल बहुत ही कम रह गया था।

महाऽमात्य शान्तुमहेता ने महाराजा की गैर मौजूदगी में इतने अल्प संख्यक सैन्य से मालवपति के साथ युद्ध करने में प्रजा की कुशल न देखी। इसलिये हर्जाने की कुछ रकम देकर प्रजा को कष्ट से बचाने के लिये मालवपति से सन्धि करली थी। परन्तु यह सन्धि कर लेना और दण्ड की रकम देना महाराजा के हृदय में कांटे की तरह चुभा करती थी। अतः इस विषय में महाराजा ने आस पास के लोगों के बरगलाने से महाऽमात्य महेताजी पर नाराज होकर महाऽमात्य पद ले लेने की चेष्टा की थी। परन्तु राज्य माता मिनल देवी ने बीच में पड़कर वह मामला शान्त कर दिया था। तो भी मालवा पर चढाई करके बदलालेने की सर्व सम्मति से तय करके तैयारी की गई। लाव लश्कर मालवा की तरफ रवाना कर दिया गया। महाराजा कल रवाने होंगे क्योंकि कितनेक गैर मौजूद सरदारों व प्रधान मंत्रीयों को बुलवाये गये और उन्हें महाराजा के साथ जाना होगा ऐसा तय हुवा था।

इधर पन्द्रह रोज हुए जब से महाराजा ने जसमा को तालाब पर देखी थी। महाराजा का चित्त हमेशा व्यग्र रहा करता था उन्हें ज़रा भी चैन नहीं पड़ता था। बात करते करते भी व्यग्र बन जाते थे। परन्तु सब कोई ये ही समझते थे कि मालव नरेश को जीतने की धुन सवार हो रही है। जिससे ये इतने व्यग्र बने हुए हैं। महाऽमात्य शान्तुमहेता और राज्यमाता मीनलदेवी भी खास

बात को न जान सके। राज्य माता तो उलटी इसे पुत्र का उत्साह मान कर पुलकित हो उठती थी।

महाराजा को जब भी जसमा याद आती कि वे तालाब पर पधार जाते और उसे देखकर कोई न कोई चेष्टा करते ही रहते। इन पन्द्रह दिन में एक भी दिन ऐसा नहीं निकला होगा जिस रोज महाराजा सरोवर पर नहीं पधारे हों। सरोवर पर जाकर ओड़ लोगों से तथा उनके नायक से बातें करते तथा जिस झाड़ के नीचे जसमा के बच्चे की झोली बन्धती थी, उसी झाड़ के नीचे जाकर विश्राम लेते थे। बच्चे को झूला देने आती जाती हुई उ ओडण युवती को देखा करते और मौका लगे तो बातचीत कर का भी प्रयत्न करते। पहले तो महाराजा तालाब प पधारते, तब मंत्री मंडल में से किसी न किसी को साथ लाते किन्तु धीरे २ उन लोगों को साथ लाना भी बन्द कर दिया था। इतना ही नहीं, वहां काम की देखरेख करने वाले आंबड़ और मुंजाल महेता की भी नजर चुकाने का प्रयत्न करते रहते थे। पर उन चतुर मुसद्दियों ने बात को भांपली और मर्म को पहुँच गये। इसलिये वे खुद टाला ले लेते थे।

जब मनुष्य के हृदय में कामाग्नि प्रवेश कर जाती है, तब वह अपना मान भूल जाता है और अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने की हर तरह चेष्टा करता है। परन्तु कोई तो बिना सोचे समझे एक दम कूद पड़ता है और कोई चतुराई से काम लेता है। वह शनैः शनैः

आगे बढ़ता है। महाराजा सिद्धराज भी चतुर थे। इससे उन्होंने युक्ति से काम लेना पसन्द किया था।

एक रोज महाराजा कुछ जल्दी आगये थे। यद्यपि मध्याह्न बीत चूका था परन्तु समय अभी वहुत बाकी था। धूप कड़ाके की पड़ रही थी। दुधमल चावड़ा और महाराजा दोनों सरोवर के कांठे कांठे फिर रहे थे। काम झड़पसें चल रहा था। कुदालियों के प्रहार से धरती धणधणा रही थी। ओड लोगों की स्त्रियें मिट्टी की टोकरीयें भर भर कर सरोवर की पाल पर डाल रही थीं।

महाराजा को ऐसी धूप में पधारते हुए देखकर लोग आश्चर्यान्वित हुये। नजदीक पधारने पर ओड लोगों ने व ओडके नायक ने कुदाली को हाथ में ढाब कर महाराजा का अभिवादन किया। ओड सरदार बोला-महाराज! आज ऐसी तेज धूप में?

वक्त मिले तब, आया जाय न! महाराजा ने उत्तर दिया। सूर्य का ताप यद्यपि प्रखर था, परन्तु वह ओड लोगों को असह्य नहीं होताथा। पसीने पसीने होजाने पर भी उनका काम तो चालू ही था। फिरते फिरते महाराजा तालाब के कांठे आये और गर्मी से घबरा कर दुधमल से कहने लगे।

दुधमल—पानी चाहिये

महाराज—उसी को बुलवालें। दुधमल ने कहा। किसको? महाराजा ने प्रश्न किया।

वही श्रोड की स्त्री जसमा को। दुधमलने महाराजा से हंसते हुये कहा।

खुशामदिये लोग अपनी पूछ होने तथा स्वार्थ साधन के लिये अपने स्वामी को उचित अर्ज न करते हुए पतन के मार्ग में आगे बढ़ाने को मददगार हो जाते हैं। इतने में जसमा मिट्टी डालकर जाने लगी। उसको बुलवाकर दुधमलने महाराजा के लिये पानी लाने को कहा।

जसमा जहां बच्चे की झोली बन्धी हुई थी वहां आई। घनी डालियों के कारण झाड़ के नीचे धूप नहीं थी। इससे वहां ठण्डक थी। जसमा ने मटकी में से ठंडा पानी भरकर शरमाते हुए पानी का प्याला लाकर महाराजा के सामने खड़ी हुई। 'लेऊं' कह कर जसमा के हाथ में से पानी का प्याला लेते हुए दुधमल की तरफ देखकर महाराजा ने प्रश्न किया। जसमा चुप रही।

प्याले में से पानी पीते २, तुम्हारा ही नाम जसमा है ? **महाराजा ने फिर दूसरा प्रश्न किया।**

अपना नाम महाराजा के मुंह से सुन कर जसमा एक दम शरमा गई और लज्जा की रेखा उसके मुख पर पड़ते ही उसका सौन्दर्य अधिक खिल उठा। जसमा ने महाराजा को तीन चार बार इसी झाड़ के नीचे देखा था और एक बार बोलने का भी प्रसंग बन आया था। इससे उसने टूंक में ही जवाब दिया।

'जी' राजा पानी पी गया और फिर दूसरी बार मांगा।

जसमा ! तू ऐसी कड़ी धूप कैसे सहती होगी ?

महाराजा ने प्रश्न किया।

क्या करें, महाराज ! हमारे क्या राज्य है ! मजदूरी करते हैं और गुजारा चलाते हैं। जसमा ने पानी का पात्र दूसरी बार देते हुए नजर दूसरी तरफ रखकर जवाब दिया।

परन्तु ऐसी धूप में ? महाराजा ने फिर प्रश्न किया।

नहीं तो कैसे पूरा पड़े ? बोलते बोलते देरी अधिक हो जाने से जसमा ने खोदाती हुई जमीन की तरफ नजर डाली और अपने पति को काम करता हुआ देखकर झोली में सोते हुये बालक को झूला देती हुई वहां से चली गई।

महाराजा देखते ही रह गये परन्तु महाराजा की इच्छा उसे प्राप्त करने के लिये बढ़ने लगी।

ग्रहण करने योग्य शिक्षाः—

१—जिस मनुष्य के हृदय में किसी स्त्री को देखकर विकार प्रज्वलित हो उठता है उसे वही धुन लग जाती है कि इसे मैं कैसे प्राप्त करूं और अपनी प्रेयसी बनाऊं उस लालसा के वेग में आकर वह अपना आपा तक भूल जाता है। अपनी एवं अपने पूर्वजों की इज्जत का जरा भी खयाल नहीं रखता हुआ ऐसे र

प्रपंच रचता है। ऐसा माया जाल फैलाता है जिसे समझना बड़ी ही कठिन समस्या है। २—इस फंद में फसा हुवा मनुष्य अकृत्य एवं सभी कुकृत्य कर डालता है और अपना इहलोक परलोक दोनों बिगाड़ डालता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने स्त्री संसर्ग से बचते रहने के लिये खूब सावधानी रखने का कहा है। ३—अपने मालिक को ऐसे चुंगल में फंसे हुए देखकर आसपास के लोग उनका पतन करने में किस प्रकार मददगार हो जाते हैं। और किसी निर्दोष मनुष्य को कैसा फंसा देते हैं यह दुधमल की युक्ति से प्रकट है। ४—कामी लोग स्त्री के आगे कैसे नम्र होकर प्रेम दर्शाते हैं और उसे अपनी तरफ आकृष्ट करने के लिये कैसी युक्ति से काम लेते हैं यह भी इसमें बताया गया है।
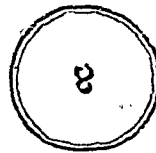
प्रलोभन
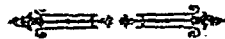
निरखिनेनवयौवना, नेहन आणेलगार ॥
गणेकाष्टकीपुतली, ते भगवान समान ॥१॥

(श्रीमद्राजचन्द्र के उद्गार)

वे मनुष्य वास्तव में पूज्य हैं जो साक्षात् काम स्वरूपा, सौन्दर्य मूर्ति, नव यौवना स्त्री को देखकर भी विचलित नहीं होते किन्तु अपने निज स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। उनको कवि ने तो भगवान की उपमा देदी है। किन्तु विचार करते हुए यह उपमा अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र और नरेन्द्र भी

जिसकी आँख के इशारे पर नाचते रहते हैं उस मनोहरा स्त्री को देखकर जो क्षुब्ध नहीं होते। वे मनुष्य तो क्या देवों के भी पूज्य हैं ऐसे महापुरुष तो बहुत ही कम है। सारा संसार ही इसके फंदे में फंस कर उसे अपने आधीन करने के लिये आकाश पाताल एक कर डालते हैं और उचित अनुचित सभी उपाय काम में लेते हैं। न बोलने जैसे वचन भी बोलते हैं और स्त्री के दास होकर रहना भी स्वीकार करते हुए नहीं सकुचाते। गुर्जर सम्राट महाराजा सिद्धराज भी एक मजदूरनी के सौन्दर्य पर मुग्ध हुए क्या चेष्टा करते हैं सो दिखाया जाता है।

जब से महाराजा ने जसमा को सरोवर पर काम करती हुई देखी है और उसके हाथ से पानी पीकर बातचीत की है। उसके बाद तो प्रति दिन सरोवर पर जाना और प्रसंग पाकर बातचीत करके उसे अपनाना महाराजा सिद्धराज का ध्येय बन चुका था। इससे वे टाइम बे टाइम जब मरजी हो तभी सरोवर पर पहुँच जाते थे। एक दिन फिर सरोवर की पाल पर खड़े हुये महाराजा को विचार मग्न देख कर दुधमल ने कहा—

क्यों महाराज ?

क्यों क्या ? महाराजा ने कहा।

क्या विचार करते थे ? दुधमल ने पूंछा।

कुछ नहीं। जिस रोज से महाराजा ने पानी पिया था। दुधमल के साथ निकट मैत्री सी होगई थी। आज प्रातःकाल ही महा-

राज सरोवर पर पधार गए थे। खुदाई का काम पूरी तेजी से चल रहा था। आज सरोवर पर इधर उधर नहीं फिरते हुए उसी झाड़ के नीचे खड़े होगये थे। जहां बच्चे की झोली बन्धी हुई थी दुधमल भी खड़ा खड़ा बातें कर रहा था। जसमा को झूला देने के लिये आती हुई देख कर दुधमल जरा दूर हट गया। सकुचाती हुई जसमा झूला देकर रवाना हुई। पीछे से धीमी आवाज आई जसमा। जसमा ने रुककर पीछे देखा तो महाराजा थे। जसमा स्थिर खड़ी रही। फिर आवाज़ आई जसमा । वह फिर भी चुपचाप खड़ी ही रहीं।

जसमा! ऐसी महेनत करने के लिये-तेरा सर्जन हुआ हो यह मैं नहीं मानता। फिर क्यों तू इस तरह अपना जीवन बरबाद कर रही है। महाराजा ने बात आगे बढ़ाई।

क्या करें, महाराज! हमारा धन्धा ही ऐसा है। जसमा ने धीरे से सकुचाते हुए महाराजा को उत्तर दिया।

मैं तुम्हारे लिये यह सुविधा किये देता हूँ कि तुम आज से तालाब की पाल पर बैठी हुई अपने बच्चे का पालन किया करो। मिट्टी मत उठाया करो। मिट्टी उठाने वाली तो बहुत हैं-महाराजा ने अपना प्रस्ताव रक्खा।

आप मालिक हैं। इसलिये ऐसी कृपा दर्शाते हैं। परन्तु मैं बिना मेहनत किये हराम का खाना नहीं चाहती। मेहनत करना मैं अच्छा समझती हूं। मेरा स्वभाव दूसरी ही तरह का है।

जसमा ने बहुत अदब के साथ उत्तर दिया।

जसमा ! तेरा शरीर सुकुमारता का घर है। इससे मिट्टी उठाना सुवर्ण के थाल में धूल भरने जैसा है। इसकी कदर तो कोई कदरदान ही कर सकता है। सब कोई नहीं कर सकते। तू मिट्टी ढोकर इसका नाश मत कर। **महाराज ने प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा।**

महाराज ! बिना महेनत किये बैठे-बैठे खाने से कई प्रकार के रोग होजाते हैं। मुझे भी कोई रोग हो जावे और डाक्टर लोग फीस मांगें तो हम मजदूर लोग कहां से लावें ? हम मजदूरों के पास धन कहाँ है।

हिस्ट्रीया का रोग जिसे पुराणी स्त्रियें भेड़ा-चेड़ा कहती हैं और जिसके होजाने पर अक्सर देवी देवताओं पीरों के स्थान पर ले जाना पड़ता है वह प्रायः परिश्रम न करते हुये बैठे-बैठे खाने से ही हो जाता है। यह रोग जितना गरीब स्त्रियों को नहीं होता, उतना धनवान स्त्रियों को अधिक होता है। जहाँ आलस्य है परिश्रम नहीं किया जाता वहाँ यह रोग जल्दी लागू होता है फिर डाक्टरों की हाजरी और देवी-देवताओं की मिन्नतें करनी पड़ती हैं। महाराज ! मैं ऐसा करना नहीं चाहती। मेरा काम अच्छी तरह चल रहा है परि-श्रम करने से मेरा शरीर स्वस्थ रहता है आप फिकर न करें।

जसमा ने महाराज से कहा।

जसमा ! मैं फिर भी कहता हूँ कि तू जंगल में बसने के लिये

नहीं है। देख तो यह तेरा सुकोमल बदन जंगलों में भटकने के काबिल नहीं है। चल मेरे शहर में, पाटण शहर इस समय बिलकुल स्वर्ग बन रहा है तुझे शहर में अच्छी जगह रहने को दिला दूंगा।

कृपा भाव दर्शाते हुए महाराज ने कहा।

जसमा समझ गई कि राजा का पहला दाव न चलने से दूसरा पासा फेंका और मुझे लोभ दे रहा है।

महाराज कहां तो यह आनन्ददायक जंगल और कहां गन्दा नगर ? जिस प्रकार गर्मी के मारे कीड़े मकोड़े भूमि में से निकल कर रेंगते हैं उसी प्रकार शहरों के तंग मार्ग में मनुष्य फिरते हैं। वहां अच्छी तरह चलने को मार्ग भी पूरा नहीं मिलता और जंगल में तो सदा ही मंगल है। ऐसी शुद्ध स्वच्छ वायु और विस्तृत-स्थान शहरों में कहां है ? जसमा ने उत्तर दिया।

राजा सोचने लगा कि यह तो इस फांसे में भी नहीं फंसी अब क्या करना चाहिये। तुरन्त ही बात करने के ढंग को बदल कर महाराजा ने कहा।

जसमा ! तेरी बुद्धि बिगड़ी हुई है। गिंवारों को गिंवारपना ही अच्छा लगता है। इसी से तूं ऐसी बातें कर रही है। अधिक मनुष्यों के बीच में रहना बड़े भाग्य से ही मिलता है। शहरों का वास-देववास होने से बड़ा ही अच्छा है। तूं हलके मगज की ठहरी। खांखरे की खीसकोली (ताजी) दाख मिश्री का स्वाद

उसका देखने का ढंग ही यह स्पष्ट बतला रहा है कि तेरे पर तो उसका विश्वास ही है न प्रेम ही। ऐसा आदमी तेरी क्या कदर जाने ? ऐसे अविश्वासी पति के पास रहना क्या तुझे उचित है ?

टीकम ओड ने उस समय राजा की तरफ इसलिये देखा था कि मेरी पत्नी से क्या बातें कर रहे हैं ?

महाराज ! सच्चे को संसार में जरा भी भय नहीं है। मेरे पति का मेरे प्रति पूर्ण विश्वास है। मैं अपने पति के सिवाय अन्य पुरुषों को भाई मानती हूँ। यह अविश्वास तो आप लोगों में होता है। हमारे में तो आज तक ही अविश्वास का काम नहीं। मेरे मन में यदि पति के प्रति अविश्वास हो तो पति को मेरे प्रति अविश्वास हो। मेरा पति मुझे नहीं देख रहा है। परन्तु आपकी बिगड़ी हुई दृस्टि को।

जसमा ने वैसा ही निर्भीकता से उत्तर दिया।

जसमा। तूं मिट्टी उठा उठा कर डाले यह मुझ से देखा नहीं जाता। तेरे जैसी नाजुक स्त्री इस तरह अपने मानव देह का ह्रास करे यह मुझे असह्य हो रहा है। इसलिये तू मेरे महलों में चल। **उल्टी सुल्टी बातें छोड़ कर महाराज ने मुद्दे की बात कही।** गुर्जर सम्राट को इस तरह बातें करते हुये देख कर जसमा से न रहा गया। यद्यपि सिद्ध राज एक बड़ा राजा था परन्तु जसमा को इससे भी अपना स्वमान अधिक अभीष्ट था। इसलिये राजा के कथन की परवाह न करते हुए जसमा ने कहा

महाराज ! हम तो मजदूर है। मिट्टी उठाये बिना काम कैसे चले। परन्तु आपके महलों में रानियों की क्या कमी है ?

परन्तु तू एक बार महल तो देख आ। महाराजा ने कहा।

महाराज ! पाटण के महलों में रहने की अपेक्षा मैं अपने गरीबी झोपड़े को किसी तरह कम नहीं समझती हूं। राजा की रानी होने के बदले एक ग्रामीण ओड की स्त्री कहलाना मुझे अधिक पसन्द है। जसमा ने स्पष्ट उत्तर दिया।

किन्तु तेरे रूप और हुस्न के पास;.........।

महाराजा आगे बोलना ही चाहते थे। इतने में ही जसमा ने कहा।

महाराज ! यह बात जाने दो। मेरे रूप की आपने कदर की तो भले ही की। परन्तु यह शरीर तो झोपड़ी में ही रहने को है। अत. मुझे जाने दीजिये। आप राजा हैं, मैं रैयत हूं। गुजरात के महाराजा होकर आपको ऐसा काम और ऐसी याचना करना नहीं शोभती। जरा खयाल रखिये।

मैं कहता हूँ उसे मान'......इतने में ही जसमा महाराज के बीच में ही बोल उठी।

आज आपने मेरे साथ ऐसी बात की। कल आपकी नजर दुसरी तरफ ढलेगी। यही गती रही तो पाटण के नरेश पर कौन विश्वास करेगा। इसलिये यहाँ से पधारिये और महलों में रहकर आपकी रानियों को ही आपके महल के सुख और वैभव दीजिये।

गुजरात के अन्दर ऐसे भी राजा लोग होते हैं इसकी खबर आज ही पड़ी। यह कहने के साथ ही पल्ला छुड़ाकर जसमा एक दम आगे बढ़ी। पिछाडी बच्चा झोली में रो रहा था। उसकी भी सुनाई नहीं की। जाती हुई जसमा को राजा देखता ही रह गया पर एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं निकला।

मिट्टी से प्लावित साड़ी के अन्दर ढका हुआ उसका गौर वर्ण सूर्य की किरणों को पीछे हटा कर अजब दमक दे रहा था। उसकी चाल (यद्यपि वह जमीन खोदने वाली जाति की थी किन्तु) इतनी मृदु थी कि कहीं चलते हुए धरती माता को किसी प्रकार कष्ट न होने पावे। महाराजा उसकी चाल को देखते ही रह गये औ अपने मन ही मन में उसकी प्रशंसा करने लगे।

महाराजा आप यहाँ कहाँ से। झाड़ के पीछे से आवाज आई।

महाराज सिद्धराज ने पीछे फिरकर देखा तो पूछने वाला आंबड था। यह भी महाराज के मंत्रीमंडल में का एक सभासद था तथा प्रधान मंत्री शान्तु महेता का खास विश्वासपात्र था।

आंबड ! तू यहाँ कहाँ से ? महाराजा ने प्रश्न किया

महाराज ! मैं तो दिन में दो तीन बार काम देखने को आया करता हूँ। ऐसा बोलते हुए आम्बड की नजर झाड़ की डाली के नीचे लटकती हुई झोली की तरफ और वहां से खिसक कर जाती हुई ओडण युवती की तरफ गई और उसके हृदय में एक प्रश्न पैदा हुवा कि, क्या महाराजा इससे मिलने के लिये यहां आते हैं ?

ग्रहण करने योग्य शिक्षा—

१ इस प्रकरण में दिखाया गया है कि जो मनुष्य कामान्ध हो जाता है वह यह नहीं सोचता कि मैं कौन हूँ। किस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मेरी व मेरे खान दान की कैसी प्रतिष्ठा है और मैं यह क्या कर रहा हूँ। मैंने जब विवाह किया था तब मेरी पत्नी को मैंने क्या २ अधिकार दिये थे। उसे क्या २ विश्वास दिया था और अब उसका हक उसका अधिकार दूसरी को देने का मुझे क्या हक है।

२ वह उचित और अनुचित रीति से उसे लालच विश्वास देकर अपनी तरफ रजू करने की पूरी चेष्टा करता है। हर तरह लाचारी और आजीजी भी करता है परन्तु जो चतुर स्त्री होती है वह उसके दम्भ (झांसे) में नहीं आती और अपने शील धर्म एवं पतिव्रत धर्म को ही आदर्श मान कर उन लालच भरे वचनों को ठुकरा देती है। किन्तु जो मूर्ख स्त्रियें होती है वे दम्भ में आकर भ्रष्ट हो जाती हैं, वे न घर की रहती न घाट की।

सखियों का विनोद

संसार के अन्दर मनुष्य को अपने हृदय का भार हलका करने और असमंजस में पड़े हुए को मार्ग का प्रदर्शन करने के लिये यदि कोई स्थान है तो वह केवल मित्र ही है। मित्र ही त्रिताप रूप गर्मी से सूखते हुए हृदय रूपी बगीचे को सिंचन करने में परम सहायक है। कहा है कि—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यंचगुहतिगुणान् प्रकटीकरोति ॥
आपद्गतंच न जहाति ददातिकाले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्तिसन्तः ॥ १ ॥

(भर्तृहरिनीति शतक)

भावार्थ—पाप करते हुए को रोके और उसके हित का उपदेश करे, गुप्त बात को छिपावे और गुणों को प्रकट करे, आपत्ति काल में साथ न छोड़े और समय पड़ने पर यथा शक्ति द्रव्यादि से सहायता करे। इस प्रकार संत पुरुषों ने उत्तम मित्रों के ये लक्षण बताये हैं। जसमा भी अपनी सखि के यहाँ जाकर किस प्रकार बातचीत करके अपना हृदय खाली करती है सो दिखाया जाता है।

रम्भा बहन! जसमा ने नीचे से आवाज़ दी।

कौन! ऊपर से आवाज आयी।

यह तो मैं हूँ! जसमा ने अपनी पहचान कराई।

रम्भा ने नीचे उतर कर किंवाड़ खोले और आगन्तुक को पहचान कर कौन! जसमा बहन?

हाँ! बहन! जसमा ने कहा।

इस समय कैसे! रम्भा ने आने का कारण पूछा।

लो, क्या मिलने को भी न आऊँ? पाँच दिन पहले मिल गई थी। आज फिर तबीयत हुई कि मिल आऊँ। जसमा ने जवाब दिया।

आओ बहन! कहकर रम्भा जसमा को अपने कमरे में ले गई।

जसमा और रम्भा यद्यपि बहनें तो नहीं थी परन्तु जसमा के पाटण आने के बाद इन दोनों की परस्पर घनिष्ठता बढ़ गई थी। दोनों ही एक मोहल्ले में रहती थी। नजदीक होने से आने जाने में दोनों

को सुगमता थी। जसमा रम्भा के यहाँ कई बार आती और सुख दुःख की प्रेम भरी बातें कर जाती थी। इन दोनों में गाढ सम्बन्ध होने का यह भी कारण था कि श्री आंबड़ भाई तालाब की देख रेख करने को दिन में दो तीन बार आते जाते थे और रम्भा इनकी पत्नी होने वाली थी। इनका सम्बन्ध हो गया था। रम्भा के द्वारा कई बातें जसमा को राज्य प्रपंच की जानने को मिलती थी। रम्भा और जसमा दोनों मिलनसार, व हंस-मुख थी। इस कारण इनकी प्रीति प्रतिदिन बढ़ती ही जाती थीं। कोई कोई वक्त बातों के रंग में चढ़ती तब एक दूसरी की हंसी मसखरी भी कर लेती थी।

इन दिनों आंबड भाई तालाब पर नहीं पधारते? जसमा ने पूछा। गये होंगे कोई मरि मारने को। रम्भा ने नाक सिकोड़ते हुए कहा।

मालूम होता है कि तुमने भी उनको नहीं देखा है? और उनके जाने की खबर तुम्हें भी नहीं है। जसमा ने रम्भा की बात में से सार भाग खींच कर सामने रखा।

क्या सभी हर रोज देखती ही रहती होगी? रम्भा ने कहा। बहन, मैं तो हर रोज ही देखती व सेवा करती रहती हूँ। जसमा ने कहा।

तुम लोगों का बात जूदी है। रम्भा ने जवाब दिया।
हाँ। मेरा तो लग्न भी हो गया है। जसमा ने कहा।
और पुत्र की माता भी तो हो चुकी हो।
रम्भा ने हंसते हुए कहा।

लो, इसमें क्या ? यह तो संसार की रीति है जसमा ने हास्य को रोकते हुए कहा।

मैं तो अब देश में जाने का विचार कर रही हूँ।

जसमा ने बात की शुरुआत की।

तुम या तुम्हारे घर वाले ? रम्भा ने व्यंग में पूछा।

मैं और वे क्या अलग २ हैं । जसमा ने जवाब दिया।

सरोवर पूरा खुद चुका ? रम्भा ने प्रश्न किया।

नहीं। जसमा ने उत्तर दिया।

तब ? रम्भा ने फिर प्रश्न किया।

अधूरा छोड़ कर ही जावेंगे। जसमा ने कहा।

काम पूरा करने से पहले राज्य मजूरी दे देवेगा ?

नहीं देवे तो कुछ परवाह नहीं हमतो मजदूर हैं। और कहीं मजदूरी करेंगे। ऐसे अनीति के पैसे नहीं चाहिये । जसमा मूल बात पर आई।

अनीति, किस बात की बहन ! रम्भा को इसका रहस्य मालूम नहीं पड़ा इसलिये प्रश्न किया।

दूसरा क्या बहन ! अब यह धरती (भूमि) भारी पड़ती जाती है और मेरी जन्मभूमि आवाज दे रही है कि आती रह मालवा में। जसमा ने व्यंग में कहा।

परन्तु क्या बात हुई, यह तो कह। रम्भा ने उत्सुकता प्रकट की।

हुई क्या ? मन ऊब गया ? जसमा ने बात को छिपाते हुए कहा।

पर कुछ कारण तो होगा ?

रम्भा ने कारण जानने की आतुरता प्रकट की।

कारण ? कारण क्या कहूँ बहन कहते हुए जबान नहीं उठती।

जसमा ने ठंडी आह भरते हुये कहा।

आखिर कुछ कहोगी भी नाम ठाम भी बताओगी।

रम्भा ने शांत्वना दिलाते हुए उत्सुकता दर्शाई।

बहन क्या कहूँ—खुद महाराजा सिद्धराज गुर्जरसम्राट की मेरे पर नियत बिगड़ी हुई है।

जसमा ने धीरे से वास्तविकता का आभास कराया।

क्या कहती हो बहन ? रम्भा सुनकर स्तब्ध होगई।

सच्ची बात है बहन ? जसमा ने विश्वास दिलाते हुए कहा।

तुम्हारे पतिदेव इस बात को जानते हैं। रम्भा ने प्रश्न किया।

नहीं, मैंने अभी उनके आगे बात नहीं की है यदि कहूँ तो बात बिगड़ जावे और परिणाम न जाने क्या हो।

जसमा ने गम्भीरता से कहा।

परन्तु अपन महाराजा के सामने ही नहीं देखें तो ?

रम्भा ने प्रश्न किया।

अपन नहीं देखें परन्तु महाराजा देखें इसका क्या उपाय। और राजा है रूठे या तूठे। रूठे तो पायमाल हो जावें यह तो जाहिरा बात है। बहन ! जसमा ने भविष्य विचार कर कहा।

तुम्हारा भाई आवेगा तब मैं उनके आगे बात छेड़ कर पूछूंगी। रम्भा ने आंबड के बाबत में कहा।

नहीं ! नहीं ! उनको क्या कहना । नक्की हुआ तो कल ही रवाना हो जावेंगे । जसमा ने कहा ।

ऐसी क्या जल्दी है ? अभी तो डरने जैसी कोई बात नहीं है । रम्भा ने कहा ।

क्यों बहन ? जसमाने उत्सुकता से पूछा ।

कल प्रातःकाल ही महाराजा मालवा पर चढ़ाई करने जा रहे हैं । रम्भा ने कहा ।

पीछे कब आवेंगे ? जसमा ने आतुरता से पूछा ।

विजय मिलेगी तब । कम से कम दो महीना तो लगेगा ही । वहां तक क्या तालाब की खुदाई का काम पूरा नहीं हो सकता ? रम्भा ने पूछा ।

जल्दी करें तो डेढ महीने में भी हो सकता है । जसमा ने कहा ।

फिर की हुई मेहनत के ऊपर पानी क्यों फेरती हो । परन्तु महाराजा ऐसे दिखते तो नहीं हैं ।

रम्भा ने फिर बात को स्पष्ट करने के लिये छेड़ी ।

यही बात है न बहन ! किसी को कहें तो अपने को ही झूठा मानें । संसार में तो प्रतिष्टा एक बड़ी वस्तु है ।इसलिए उनके लिये सामान्य मनुष्य सच्ची बात करे तो भी कोई नहीं मानता है । यह दुनिया का स्वभाव ही है । जसमा ने कहा ।

६

दूरदर्शिता एवं हितशिक्षा

पद्माकरं दिनकरो विकची करोति,
चन्द्रोविकाशयति कैरवचक्रवालम् ॥
नाभ्यऽर्थितो जलधरोपि जलंददाति,
सन्तःस्वयं परहिते सुकृताभियोगाः ॥ १ ॥

(भर्तृहरि नीतिशतक)

भावार्थ—सूर्य्य बिना याँचे ही स्वतः कमल के समूह को विकसित करता है। चन्द्रमा बिना याँचे ही कुमुदिनी को प्रफुल्लित करता है और मेघ विना यांचे ही जल देता। ऐसे ही सन्तजन बिना यांचे ही पराये हित के लिये स्वतः उद्योग करते हैं।

यद्यपि स्वार्थ में अन्धा मनुष्य उपकारी का भी अपकार करने की चेष्टा करता है। परन्तु उत्तम जन उस अपकार को भूलकर अपकार करने वाले का भी हित ही करते हैं और उसे नेक सलाह ही देते हैं, जो इस प्रकरण में दिखाई देगा।

लगभग एक महिने से महाराजा सिद्धराज उज्जैन को चारों तरफ से घेरे हुये हैं। परन्तु शत्रु लोग जरा भी दाद नहीं देते। इधर पाटण में संहस्रलिंग तालाब का काम पूरा होने आया। रात दिन काम चलाया जाता था और पन्द्रह दिन में तो काम पूरा करके मेहनताना ओड लोगों को चुका दिया जायगा। ऐसे आसार दिखाई देते थे।

मुंजाल महेता को महाराजा सिद्धराज ने अपने पास मालवे बुलवाया।

मुंजाल शान्तु महेता के पास रहकर हरएक राज्यकीय कार्य में कुशल बन गया था, परन्तु महाऽमात्य शान्तु महेता जितनी दूरदर्शिता इसमें नहीं आई थी। तो भी महामात्य बनने को उत्सुक था और किसी न किसी प्रसंग की खोज में था। उसने मालवा जाने से पहले सरोवर पर आकर वहां की देख भाल की और दूधमल को बुलवा कर पूछा।

दूधमल ? क्या समाचार है।

तालाब का काम पूरा होने को है। दूधमल ने जवाब दिया।

बहुत तेजी से काम हुवा है। क्यों? मुंजाल ने बात स्पष्ट करने को कहा।

ऐसा कैसे हो ? महाऽमात्य ने कहा।

यह आप ही विचार सकते हैं। अगर मैं और कुछ कहूं तो महाराजा को भी बुरा लगे और आप को भी। मुंजाल ने कहा।

वाह ! मेरे को बुरा लगने न लगने की क्या बात है। महाराजा को बुरा न लगे यहां तक कहता तो ठीक था। यह दाल में काला मालूम होता है कि महाराजा तुझे फरमावें और मुझे न फरमावें ? मैं तेरी बात का विश्वास नहीं करता ? महाऽमात्य ने कहा।

तब मैं क्या झूंठ बोलता हूँ ? मुंजाल को अखरा।

नहीं। झूंठ नहीं तो अर्ध सत्य होगा महाऽमात्य ने कहा।

मेरे ऐसा कहने और करने का कारण क्या ?

मुंजाल सफाई दिखाने लगा।

कारण है तभी तो तू इतनी सफाई पेश करता है। इस आवाज में महाऽमात्यपन की खुमारी नहीं परन्तु तेजी अवश्य थी। फिर बोले—तूं मालवे जाता है तो महाराजा को अर्ज करना कि जसमा से भी अधिकाधिक रूपवती स्त्रियें आपको मिल जावेंगी। गुर्जर सम्राट्पाटण के महाराजा को ऐसी मनोवृति शोभा नहीं देती। मगर मुंजाल यह तेरे लिये भी अच्छा नहीं कि अपने स्वार्थ वश होकर महाराज को ऐसे नीच कार्यों में सहयोग देकर गड्ढे में ढकेले। राजा महाराजा तो राज्य में शोभा के स्थान रूप हैं। और सिर्फ राज्य के भूषण हैं। राज्य

की व्यवस्था का कार्यभार अपन लोगों पर ही है। कार्य तोअपन लोगोंके ही करने का होता है। उस पर मुहर मार कर कायदा का रूप देना महाराजा का काम है। तेरे जैसे मंत्री जो अपने स्वार्थ के खातिर ऐसे हलके कार्य में साथ देने लगेंगे तो बहुत परिश्रमसे बनाया हुआ महागुजरातके टुकड़े होते कुछ भी देरी न लगेगी। महाराजा को तो चाहिये कि वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करे। राजा को प्रजा का पालक व संरक्षक होना चाहिये। भक्षक होने में तूं ही जब मददगार हो जावेगा तो गुजरात को महा गुजरात बनाने का स्वप्न धूल में मिल जावेगा। इस प्रकार कहते हुए अपने बोलने का असर मुंजाल पर कैसा हो, यह महाऽमात्य देखते जाते थे और कहते जाते थे—

मुंजाल तूं ये मत समझना कि मैं मूर्ख हूं। कुछ नहीं जानता हूँ। महाऽमात्य पद प्राप्त करने के लिये अब तक तैंने क्या २ पासे फैंके हैं—क्या २ पाइन्ट रचे हैं? और क्या २ खटपटें खड़ी की हैं। वे सब मैं जानता हूँ। परन्तु मैं दर गुजर करता हूँ। मैं तुझे छोटे भाई की तरह मानता हूँ और राजनैतिक कार्य में आगे बढ़ाया है तथा—अब भी चाहता हूँ कि तेरी शक्ति सम्पूर्ण विकसित हो मेरे से भी तू सवाया हो। इसमें मुझे आनन्द है। गुजरात का एक २ मनुष्य उन्नतव ने यही मेरी कामना है। परन्तु वह गुजरात का रक्षक होना चाहिये, घातक नहीं। उसके हृदय में महागुजरात की भावना रमती रहे दूसरी नहीं। तेरे में गुजरात को महा गुजरात

रचने की भावना हो तो कह। मैं स्वयं तुझे महाऽमात्य पद सौंप देने को तैयार हूँ। मैं तो आज हूं और कल नहीं अधिक से अधिक तो दो चार वर्ष निकाले या नहीं। मैं तो दण्ड नायक हो चुका, मंत्री भी हो चुका और महामंत्रीत्व की कांचली भी पहन कर उसकी जोखमदारी भी स्वीकार कर रखी है। मनुष्य को जो वस्तु दूर से अच्छी व सुन्दर लगती है वही निकट आने पर और प्राप्त करने के बाद जटिल सी बन जाती है। उसकी विषमता व कठिनाइयों का अनुभव होने लगता है। महाऽमात्य का पद कोई मोहक वस्तु या सम्मान का विषय नहीं है। परन्तु कांटों का ताज है। सुंवाली सेज नहीं परन्तु खड़ बचड़ी जगह है। जो सावधान न रहे तो मारा जाय और अपना राज्य का व प्रजा का अहित कर बैठे। मुंजाल ? तेरे से मैंने कई आशाएं मान रखी हैं तू उलट पुलट चल कर उनका उच्छेद मत कर।

मुंजाल के पास जवाब देने की शक्ति नहीं थी। न तैयारी ही की हुई थी वह आया तो रजा लेने को था परन्तु महाऽमात्य के स्पष्ट वक्तव्य के आगे वह बहुत दब गया। बारीक २ बातों पर महाऽमात्यजी अबतक बराबर ध्यान रखते हैं। और मेरी खटपटों से ये पुरे वाकिफ हैं यह जानकर तो वह लज्जित होगया महाऽमात्यका कहना उसे अखरा। उसने कहा कि !—

आपने यह कैसे जान लिया कि महाराजा जसमा को पैसे के बहाने रोकने को सूचित कर गये हैं ?

तो दूसरा क्या समझा जाय ? महाऽमात्य ने उत्तर दिया।

आप चाहे सो माने परन्तु मैं महाराजा को ऐसे कार्य में मदद् करूं यह कैसे मानते हो। मुंजाल ने कहा।

नहीं—

तब ?

मुंजाल ! लम्बी बात बढ़ाने में मजा नहीं तूं महाराजा को ऐसे कार्य में कभी मदद् नहीं करे विरोध ही करे यह मैं भी मानता हूँ तो भी तेरी मुराद पार पाड़ने के लिये तूं जसमा को सतरंज कि सोगटी बनाना चाहता है।

मुंजाल चूपचाप सुन रहा था जो बात कोई जान नहीं सके ऐसी खबर महाऽमात्य को कहां से मिल गई यह उस की घड मथल का विषय बन गया।

मुंजाल ? तूं जा और कार्य फतह करके आना। मेरी तुझे आशिष है बड़ों को अधिक से अधिक सुनना, समझना, और सहन करना चाहिये। मैंने तो कुछ नहीं किया है फिर भी मैं सब दर गुजर करके आशिष देता हूँ कि जा और फतह कर। मुंजाल ने अचानक दोनों हाथ जोड़कर शिर निचे झूका दिया और चूपचाप बाहर हो चला।

ग्रहण करने योग्य शिक्षा—

१ इस प्रकरण में यह दिखलाया गया है कि सामान्य मनुष्य थोड़ा अधिकार मिल जाने पर योग्यता न होने से उसका कैसा

दुरुपयोग करते हैं और आगे बढ़ने की उनकी महत्वाकांक्षा कितनी बढ़ जाती है। यह मुंजाल महता के वर्णन से स्पष्ट होता है। २ उच्चाधिकारी योग्यता के कारण उच्चाधिकार पाकर भी भान नहीं भूलते परन्तु वे उसे कांटे के ताज समान मानते हुए अपनी जवाबदारी को समझ कर सदा सजग रहते हैं और सब तरफ निगाह रखते हैं तथा अपने विरुद्ध प्रयत्न करने वालों को दमन से नहीं किन्तु उसकी हरकतों को हजम करके उसके ऊपर कृपा भाव दर्शाते हुए उसे अपने आधीन करते हैं यह शान्तु महता के वर्णन से दिखाई देता है। ३—उत्तम मनुष्य अपने स्वामी को गैर रास्ते जाते हुए देख कर उसमें उनके सहायक नहीं होते हैं परन्तु उनको सन्मार्ग पर लाने का ही प्रयत्न करते हैं और दूसरों को भी यही शिक्षा देते हैं—जो शान्तु महेता ने मुंजाल को समझाया है। ४ प्रपंची लोगों का प्रपंच उन्हीं लोगों के पास कामयाब होता है जो साधारण समझके या बुद्धू है किन्तु जो चतुर है उनके आगे नहीं चलता। वे उसका भण्डा फोड़ करके उसे लज्जित कर देते हैं।
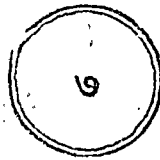
स्वार्थ का वेग
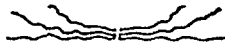
जातिर्यातुरसातलंगुणगण, स्तस्याऽप्यधोगच्छतां,
शीलंशैलतरात्पतत्वभिजन, सन्दस्यतांवन्हिना ॥
शौर्येवैरिणिवज्रमासुनिपत, त्वथऽस्तुनकेवलं,
येनैकेनविनागुणस्तृणलव, प्रायासमस्ताइमे ॥१॥

(भर्तृहरि नीतिशतक)

भावार्थ—जाति चाहे रसातल में चली जावे, गुणों का समुह और भी उससे नीचे चले जावें, शील (सदाचार) पर्वत के शिखर से गिर कर उसके टुकड़े होजांये, इष्ट मित्र कुटुम्ब परिवार के लोक

चाहे अग्नि में जल जायँ और शौर्यता पर चाहे व्रजपात हो परन्तु मेरा अर्थ (धन) कायम रहे उसमें कोई विघ्न नहीं आवे क्योंकि इस एक के बिना सब गुण तृण के समान है। स्वार्थ सधते हुए ये रहे तो रहे और न रहे तो इनकी मुझे अपेक्षा नहीं है। ऐसे स्वार्थ भावना से सने हुए दिल पर किसी प्रकार के हितोपदेश का असर नहीं पड़ता वह प्रभाव स्वार्थ भावना जागृत होते ही काफुर हो जाती है और वही जहरिले विचार अपना अमल जमा लेते हैं सो इस प्रकरण में दिखाई देगा।

पाटण से निकल कर मुंजाल सीधा मालवा में आया महाऽमात्य की चातुर्यता एवं वचन प्रहार की शक्ति के आगे वह निर्बल बन गया था सो पाटण की सीमा तक तो उसकी दृष्टि के समक्ष महाऽमात्य का व्यक्तित्व कायम रहा परन्तु धीरे २ हृदय के कौने में दबी हुई महत्वाकांक्षा ने अपना आक्रमण करना प्रारम्भ किया इससे उसका चित्त डावांडोल हो उठा। यद्यपि महाऽमात्य के उपकार उसके स्मृति परस पर अंकित अवश्य थे। परन्तु महाऽमात्य पद की महत्वाकांक्षा ने उनको अधिक समय तक न टीकने देकर दूर किये।

वह विचारने लगा कि उपकार है तो क्या हुवा ? अपन भी महाऽमात्य पद प्राप्त करने के बाद उपकार का बदला प्रत्युपकार से दे देंगे, थोड़ी देर में फिर विचार धारा पलटी चाहे कुछ भी हो क्षेत्र बताने वाले तो वेही हैं अब कितनेक बैठे रहेंगे ? पुरे वृद्ध हो

चूके हैं दो चार या पांच वर्ष बाद भी महाऽमात्य पद मुझे ही प्राप्त होगा क्यों प्रपंच करूं परन्तु फिर विचार आया कि बीच में कोई नयी आफत निकल आवे तो ?

स्वार्थ ऐसा चिकना पदार्थ है जिस पर कोई भी अच्छे विचार ठहर ही नहीं सकते चट से फिसल जाते हैं। इस प्रकार विचारों की घड़मथल में मार्ग तय करके महाराज की छावणी में वह आय पहुंचा और मौका पाकर माहाऽमात्य को मात करने की ठान ली। महाराजा को पाटण की व आसपास की परिस्थिति का परिचय कराते हुए उसने कहा कि—

महाराज। दुधमल ने कहलाया है कि ओड लोग रात और दिन नहीं गिनते हुए काम कर रहे हैं छे सात रोज में कार्य पूर्ण हो जावेगा। उसने मेरा हुक्म महाऽमात्य को विदित किया कि नहीं ? महाराजा ने प्रश्न किया

उसी ने मुझसे कहा और मैं उन्हें कहे बिना रहूँ ? परन्तु महेता जी ने कहा कि महाराज को जो हुक्म करना था मुझे ही क्यों न फरमाया ? अभी पाटण के राज्य की जवाब दारी तो मेरे शिर पर है न ? मुंजाल ने बात को बना कर कही

ऐसा अभिमान बढ़ता जा रहा है ! महाराजा मन में ही घूंच वाते हुए क्रोध में आकर बोले—मेरे राज्य में ऐसा महाऽमात्य नहीं चाहिये चाहे राज्य ही छिन्न-भिन्न क्यों न हो जावे मुंजाल तूं अभी का अभी पाटण जा और मैं हुक्म देता हूँ कि मेहता महा-

ऽमात्य पद छोड़ कर तेरे सुपुर्द कर दूं।

महाराज ने आवेश में कहा

महाराज ! उतावल मत करो मालवा जीत लेने के बाद जो करना हो वह करना। मूंजाल ने बात को संभालते हुए कहा

और अभी कुछ नहीं बिगड़ा है अब भी पाटण पधार सकते हैं। जो कल सायंकाल को निकल सको तो भी जिस रोज मेहनताना चूकाने का है उस रोज पाटण पहुँच सकते हैं या उससे पहले भी। अभी तालाब का काम कुछ बाकी है। मूंजाल ने अर्ज की

मालवा की राज्यधानी उज्जैन को महाराजा सिद्धराज ने घेर रक्खा था और मालव पति को घबराने का प्रयत्न कर रहा था परन्तु मालवपति युद्ध में खुल्ले आम नहीं उतरता था। गुजरात का सैन्य शहर के प्रकोटा के पास डेरा तम्बू डाल कर पड़ा हुआ था कौन जीतेगा और कौन हारेगा यह निश्चित नहीं था इसलिये घेरा उठा कर पाटण जाने में तो नामोशी थी तब उसी रोज रात्रि में महाराजा सिद्धराज ने आनन्द-पृथ्थीपाल दादक और वागभट को अपने डेरे में खानगी बुलाये और सलाह की, दूसरे ही दिन किसी को मालुम न पड़े इस तरह महाराजा सिद्धराज-मुंजाल व भट्टराज को साथ लेकर गुप्त रूप से पाटण तरफ निकल पड़े। रास्ते में पुरा आराम भी न लेते हुए जल्दी ही पाटण पहुँचा जाय ऐसी प्रवृत्ति धारण की हुई थी।

चार दिन के बाद गुजरात की सरहद में पहुँचने की ताकिद करते थे इतने में ही अचानक वे किसी व्यूह से घिर गये महाराजा

और मुंजाल को कुछ भी समझ नहीं पड़ी कि यह क्या मामला है। अकला कर-महाराजा के साथ सलाह कर के पीछे हटते हटते युद्ध करने का निश्चय किया मुंजाल महेता ने शीघ्र ही हुक्म छोड़ा और एक हजार अश्व का सैन्य तैयार हो गया महाराजा को बीच में लिये और मुंजाल सैन्य के अगले मोरचे पर जा खटका। परस्पर दोनों सैन्य में जय सोमनाथ का आवाज होते ही युद्ध आरम्भ हो गया अब मुंजाल को ज्ञात हुआ कि शत्रुओं को हमारे विदा होने की खबर मिलने से उन्होंने पुरी तैयारी के साथ हमारे ऊपर आक्रमण किया है। किसी भी तरह गुजरात की सरहद में प्रवेश करने का इनका इरादा था क्यों कि महाराजा के दिल में एक दिन की ढील भी एक सब जितनी थी परन्तु शत्रु लोग इनकी युक्ति को जान गये और आक्रमण उसी रोज से चालु रखा।

तीन दिन यहाँ बीत गये घमसान युद्ध हुवा मुंजाल महेता ने देखा कि आधे मनुष्य तो कट चुके हैं मदद के लिये पाटण सन्देश पहुँच सके ऐसी अब स्थिती रही नहीं इसलिये अब तो हारे बिना छुटकारा नहीं।

चौथे दिन उन्होंने मरणीये होकर लड़ने का निश्चय किया परन्तु गुजरात का सैन्य पिछड़ गया सांज पड़ते पड़ते महाराजा और मुंजाल महेता दोनो घिर गये अब पकड़ाये बिना दुसरा उपाय ही क्या था? परन्तु महाराजा सिद्धराज के हाथ से अभी बहुत

काम होना शेष हैं इसलिए प्रकृति भी कुछ काम करती है। सामने कुछ दुरी पर से धूल उड़ती हुइ दिखाई दी। और शत्रु दल एक दम चमका सूर्यदेव नजर से बाहर हो गए थे जिस से स्पष्ट कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था केवल गुजरात की तरफ से धूल उड़ती हुई जोर से दिखाई दी विचार करते हैं इतने में तो जय सोमनाथ की ध्वनी चारों और से सुनाई दी इससे सिद्धराज और मुंजाल को छोड़ कर शत्रु सैन्य में से उनके साथी भील लोग लस्कर सहित भाग गये और शत्रुओं का सरदार भी इस नवीन परस्थिती से घबराया उसने भी मौका देख कर एक दिशा पकड़ी महाराजा और मुंजाल ने इस सुधरी हुई परिस्थिती का लाभ लेकर अपना रहा सहा बल एकत्रित कर के शत्रुओं का पिछा पकड़ा परन्तु थोड़े आगे बढ़े कि एकदम चमके।

कौन ! दुधमल ? महाराजा नेपूछा।
जी। दुधमल ने जवाब दिया।
तू कहाँ से आया ? महाराजाने प्रश्न किया।
पाटण से ! दुधमलने जवाब दिया।
पाटण से ? महाराजा ने कारण जानना चाहा।

जी। महेताजी महाऽमात्यजीने हुक्म दिया जिसे तामिल करना पड़े न ? दुधमल ने कहा।

ऐसा ? महेताजी का नाम सुनकर मुंजाल ने आश्चर्यव्यक्त किया।

महेता कहां है ? महाराजा सिद्धराजने पूछा।

सैन्य क पीछे। दुधमल ने कहा।

और पाटण में ? महाराजा ने प्रश्न किया।

पाटण में राज्यमाता और आंबडभाई हैं। दुधमल ने कहा।

सोरठ में से पाटण पर अणचिन्ता कोई हल्ला करे तो ?

महाराजा ने सशंकित बन कर पूछा।

तो राज्यमाता लड़ेगी। बीच में ही मुंजाल बोल उठा।

माताजी को लड़ने जैसी परिस्थिति ही नहीं मिले तो ?

महाराजा ने फिर प्रश्न किया

पाटण की रक्षा कर सके इतना सैन्य वहां रखा है।

दुधमल ने जबाव दिया।

महाराजा की समझ मे नहीं आया कि सैन्य तो महेता साथ लाये हैं दूसरा मालवा में घेरा डाल रक्खा है तब पाटण में कहां से रहे ? महाराजा ने शंकाव्यक्त की इतने में तो मसालें जली प्रकाश में महाराजा और मुंजाल मेहताने सैन्य को देखा तो महाराजा सिद्धराज के आश्चर्य का पार ही न रहा।

दुधमल यह क्या ? महाराजा ने पूछा।

महाराज सैन्य ? दुधमलने जवाब दिया।

ऐसा सैन्य ? महाराजा ने फिर साश्चर्य पूछा।

महाराज इस सैन्य से तो आप छूट ही सके हैं। दुधमल ने कहा परन्तु महाराजा ने इस व्यंग को नहीं सुना उनकी नजर

तो मसालों के प्रकाश में सैन्य को मांप रही थी। सैनिकों की संख्या अच्छे लश्कर की बराबरी करे इतनी थी, इस में घोड़े सवार भी थे सांढी सवार भी थे। और पैदल भी थे कभी हाथ में तलवार नहीं उठाई ऐसे कृषक भी थे और तालाब खोदने वाले औड भी थे सब कोई गुजरात के वीरों की पोशाक में सजे हुए थे।

पण..........महाराजा आगे बोलते हैं इतने में महाराज, इससिवाय-दुसरा उपाय ही नहीं था पाटण की रक्षा के लिये भी तो सैन्य चाहिये, आधा से अधिक तो मालवा के घेरे में है फिर लाना कहां से ? इसलिये महाऽमात्यजी महेताजी ने बुद्धि उपार्जन की ओर पाटण से निकलने बाद-बन सका इतना टोला इकट्ठा किया अपने शत्रुओं को केवल संख्या दिखानी थी इनमें लड़ने वाला या मरने वाला कोई भी नहीं है। लड़ने वाले थे वे तो शत्रु के पीछे पड़े हैं। कितनीक वार-वीरता काम देती है-कितनीक वार संख्या और कितनी वार बुद्धि का कौशल्य भी।

तुम को हमारी खबर कहां से पड़ी ? महाराजा ने पूछा

इसकी तो मुझे मालुम नहीं-महाऽमात्यजी ने फरमान निकाला तभी खबर पड़ी- दुधमल ने सत्य बात को सामने रखी

महेता कहां ? महेता का नाम याद आते ही महाराजा ने पूछा शत्रु के पीछे पड़े मालुम होते हैं कहकर दुधमल चला। मुंजाल चलो देखें कहकर सिद्धराज महेता की तरफ चले। महाराजा तीन चार सवार को लेकर आगे निकल गये।

महेता को देखा ? किसी सैनिक से महाराजा ने पूछा

जी। वे तो प्रातः काल पाटण पहुंच जावेंगे।

एक सैनिक ने जवाब दिया

जाते रहे ? महाराजा ने साश्चर्य पूछा

हां। उन्होंने देखा कि जीत अपनी ही होगी कि तुरंत विदा हो गये ? सैनिक ने उत्तर दिया

कहे विना ही ? महाराजा ने फिर कहा।

परन्तु वख्त चाहिये न ? पाटण पर न मालुम किस समय आफत आ जावे राय खेंगार लाग देख रहा है।

सैनिक ने जबाब दिया

ठीक। कहकर सिद्धराज ने अश्व पीछा फेरा सैनिक ने भी अपना अश्व पीछे पीछे ही रखा।

अब निश्चन्तता थी इससे महाराजा को सोचने का समय मिला। मुंजाल महता और महाऽमात्य शान्तु मेहता दोनों महाराजा के मगज में तूफान का विषय बन गये, महाऽमात्य महेता महाराजा के हृदय पर विजय प्राप्त करे इसके पहले ही मुंजाल सामने आता हुवा दिखाई दिया।

महाराज ? क्या पता मिला। मुंजाल ने पूछा

वे तो पाटण गये। महाराजा सिद्धराज ने कहा

हां हां सिद्धराज के पीछे आते हुए सैनिक ने भी कहा

मुंजाल की द्रष्टि पीछे आने वाले सैनिक पर पड़ी और वह चमका अपने अश्व को एक तरफ लेकर सैनिक के पास जाकर आश्चर्य व्यक्त करते हुऐ पूछा।

सरयू ? तूं कहां से ?

सरयू ने कुछ जवाब न देते हुए ऊंगली उठाकर नाक पर स्थिर की इस अंगुली में इतनी ताकत थी कि मुंजाल को चुप रहना पड़ा एक शब्द भी वह नहीं बोल सका।

ग्रहण करने योग्ये शिक्षा

१ इस प्रकरण में स्वार्थ पटुओं की प्रपंच कला का आबेहुब परिचय होता है लालसा क्या नही कराती मनुष्य को ऐसा उलट देती है कि वह कुछ भी नहीं सोच सकता जो मुंजाल महेता के वर्णन से समझ में आवेगा २ उच्चाधिकारी कैसे कार्य कुशल एवं दूरदर्शी होते हैं और वे स्वामिभक्त कैसे होते हैं यह शान्तु महेता के कार्य से स्पष्ट है। यदि महाऽमात्य चौतरफी खबरदारी नहीं रखते और महाराज को मदद नहीं भेजते तो महाराजा का गुजरात सही सलामत पहुंचना कठिन था पर यह महेताजी की कार्य कुशलता थी-जो-अपने मालिक को बालबाल बचालिया किन्तु यह सब प्रच्छन्न रह कर ही किया है आज तो कार्य कुछ भी करे या नहीं करे स्वामि को इतना स्थूल रूप दिखावे कि हमारे जैसा खैरख्वां शायद ही कोई हो इतना ही नहीं कोई २ कर्मचारी ऊपर से वफादारी दिखावे और अन्दर से जड़े खोखली करते हैं।

८

षड्यन्त्र
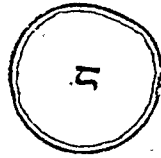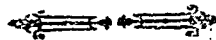
एकेसत्पुरूषाः परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्यये ।
सामान्यतस्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थानविरोधेनये ॥
तेऽमिमानुषराक्षसापरहितं स्वार्थायनिघ्नातिये,
येनिघ्नंति निरर्थकं परहितं तेकेनजानिमहे ॥ १ ॥

(भतृहरिनीतिशतक)

भावार्थ—सत्यपुरुष वे हैं जो दूसरों के हित के लिये अपने स्वार्थ को छोड़ देते हैं। सामान्य पुरुष वे हैं जो परहित भी करे और साथ ही अपना स्वार्थ भी साधे। राक्षस पुरुष वे हैं जो अपने स्वार्थ के लिये परहित को नष्ट कर डालें। परन्तु जो अपना

स्वार्थ न होते हुए भी पराये हित में व्याघात करें, उसे क्या उपमा दी जाय ?

जसमा ने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है जो उसके विरुद्ध किसी को प्रपंच रचना पड़े परन्तु स्वार्थी लोग अपना स्वार्थ साधने और महाराजा का कृपापात्र बनने के लिये कैसे २ षड्-यन्त्र रचते हैं वह इस प्रकरण में दिखाई देगा।

अर्द्ध रात्रि बीत गई थी, गुजरात की सरहद में प्रवेश करके सब आराम ले रहे थे श्रम के कारण सैनिक लोग नींद में खर्राटे भर रहे थे, उस समय मुंजाल महेता महाराज के तम्बू में कुछ सलाह कर रहा था।

महेता कैसे जाता रहा होगा ? महाराजा ने कहा

कुछ पता नहीं चलता मुंजाल ने जवाब दिया

तो अब क्या करना ? महाराज ने अपनी कठिनता प्रदर्शित की

आप पाटण पधारो। मुंजाल ने कहा

और तूं ? महाराजा ने प्रश्न किया

मैंने तो आपसे अर्ज की है कि मुझे तो मालवे जाना ही पड़ेगा इसका कारण यह है कि शत्रुओं की हिल चाल से पुरा सावधान रहने की जरूरत है मुंजाल ने कारण बताया

वाह। यह ठीक, तूं इन्कार करता था सो तो मैंने आग्रह करके साथ आने को कहा और अब बीच में छोड़कर जावेगा ? महाराजा ने आग्रह किया

यों नहीं। शत्रु अपनी हिल चाल से पुरे वाकिफ हैं। नहीं तो वे अपने को बीच में घेरते नहीं मुंजाल ने मुद्दा बताया।

परन्तु वहाँ तो दादक वगैरा है न? महाराजा बोले

यह बात सच्ची है परन्तु एक से दो अच्छे। आपको भी तो काम बनाकर पीछा फिरना है न? मुंजाल ने टकोर की

तो फिर पाटण में मेरा क्या काम है?

सिद्धराज ने बात को दबाने के लिये पकड़ी

दूसरा तो क्या है? महेता वहां है ही राज्य माता भी है परन्तु आप खुद नजर रखो उसमें बहुत फरक पड़ता है। तालाब का काम भी कितना हुआ है कितना नहीं किस तरह होता है इसकी संभाल सबने रखी ही होगी। परन्तु आप देखलें यह सब से अच्छा है। मुंजाल ने बात को बना कर कही

ठीक! तू कहे वैसा करूं, परन्तु वहां की (मालवे की) नई पुरानी खबर देते रहना। महाराजा ने इजाजत दी।

जी! कह कर मुंजाल खड़ा हुआ और तम्बू के बाहर निकला परन्तु निकलते २ वह बोल उठा।

और महाराज............

सिद्धराज का ध्यान आकर्षित हुआ और पूछा क्या? मुंजाल की जबान पर सयूं का नाम आया परन्तु अदृश्य रह कर रोब

गालिब करते हुए सैनिक ने इशारा किया इससे वह चूप हुआ और बात बदल कर बोला। मेरे जाने की बात बाहर न पड़े ?

अब गुप्त क्या रहा ? महाराजा ने प्रश्न किया।

जितना रहा उतना तो रखना कह कर हंसता हंसता बाहर निकला और तैयार रहे हुए अश्व पर बैठे कर बाहर चला

मुंजाल के जाने बाद महाराजा ने पहरे वाले को बुलाया ? पहरेवाला हाजिर हुआ और हुक्म की प्रतित्ता करने लगा। दुधमल चावड़ा को बुलवाओ। महाराजा ने हुक्म दिया दुधमल हाजिर हुआ और पूछा क्या हुक्म है ?

दुधमल क्या समस्या है ? महाराजा ने पूछा

महाराज महेता जी गये इस में मुझे वहम आता है दुधमल ने कहा

क्या ? महाराजा ने फिर पूछा

जसमा को आज की आज रवाने कर देगा। दुधमल ने कहा

तुझे क्या खबर ? महाराजा ने कारण पूछा

आपसे मिले बिना महेता जी जाते नहीं ? दुधमल ने अनुमान से कारण बताया।

पर अभी पहुँचेगा करेगा इतने में आपन भी पहुँचते हैं महाराजा ने बात को आगे बढ़ाई।

यह सब ठीक परन्तु अपन पहुँचेंगे वहाँ तक तो वे सब ठीक ठाक कर देंगे महाऽमात्य जी की कला को कोई नहीं पहुँचता दुध-मल ने विचारणिय बात कही।

तो अब क्या करना चाहिये। महाराजा ने पूछा

करना क्या? मैं अभी का अभी जाऊं दुधमल ने कहा।

फिर महाराजाने पूछा।

महेता कुछ (धडमथल) करे उस सब पर पानी फेर दूं।

दुधमल ने अपनी युक्ति रजू की।

किस तरह? महाराजा ने पूछा।

कोई न जाने उस तरह। दुधमल ने महाराजा के पास खिसकते हुए कहा कि आपका दिवान खाना है वहां थोड़ी दूर पर दांई तरफ एक कमरा है उसमें केद........थोड़ी बार अटक कर बोला और पूछा ठीक है न।

हां ठीक है। महाराजा ने स्वीकार किया।

आप पधारना दुधमल ने अपनी योजना की सफलता मान कर कहा और कभी फरियाद हो तो घोलकर पी जाना आपको आता ही है आप संभाल लेना। और महाराजा के पास आकर कोई न सुन सके इस तरह दुधमल ने पांच सात वाक्य कह डाले।

अरे तू तो गहेला है इस तरह भूल जाते होंगे। महाराजा के मुंह से इस तरह के वचन निकल पड़े।

दुधमल चावड़ा उठा बाहर निकला और तम्बू के बाहर

टहलने लगा सैनिकों की नजर चुका कर दूर जाके तैयार खड़े हुए अश्व पर चढ़ पाटण की तरफ चल दिया।

स्वार्थी लोग अपना स्वार्थ साधने व महाराजाके कृपा पात्र बनने के लिये कैसे २ अकृत्य करने को तैयार हो जाते हैं और अपने स्वामी को नेक सलाह देने के बदले कैसे २ जाल रचवाते हैं और उसमें निर्दोष सद्‌गुणी मनुष्यों को फंसा कर वे अपना स्वार्थ किस प्रकार साधते हैं यह देख कर ही महापुरुष संसार से विरक्त होकर सुख की सामग्रियों को लातमार फिर निकल जाते हैं और अन्य भव्यजीवों को सद्‌बोध द्वारा बचाने की चेष्टा करते हैं।

दुधमल करीब दश कोस पहुंचा होगा कि अचानक पिछे से एकदम डोरी का फांसा उस पर ऐसा पड़ा कि डोरी खिंचते ही उसके दोनों हाथ शरीर से सख्त बन्ध गये वह जाता हुवा अनेक प्रकार के विचारों में ऐसा उलझ रहा था कि इधर उधर आस पास आगे पिछे कौन आ रहा है उस बात का भान ही नहीं रहा।

फांसा पड़कर बन्धने पर उसने पीछे फिर कर देखा तो एक सवार घोड़े पर वहां खड़ा था परन्तु हाथ जकड़ा जाने से तलवार तक नहीं पहुँच सकता था अश्व पर से उतरने के लिये छलांग मारने लगा तो डोरी खींचकर वह नीचे गिर पड़ा। दुधमल बैठा हो ही रहाथा कि इतने में तो आगन्तुक छलांग मारकर घोड़े से उतर कर उसे पकड़ में ले लिया और सैनिक के पैर भी बान्ध दिये नीचे पटक कर कहा-कि—

पहचाना ?

कौन दुधमल ने पूछा

फिर पूछता है कौन ? आवाज से नहीं पहचान सका सैनिक ने रोष से कहा।

हां हां पहचान गया सरयू ? दुधमल ने आवाज पहचान कर कहा

हां सरयू सैनिक ने कहा।

बांधने का कारण ? दुधमल ने पूछा

कारण तो महाराजा को पूछना सरयू ने कहा।

ठीक ठीक समझ गया दुधमल ने कहा

समझ ने की बात तो पीछे परन्तु खयाल रखना कि जसमा जो काम नहीं कर सकती वह में कर सकती हूं चावड़ा। जसमा यों नहीं मिलेगी। जब तक सरयू जीवित है।

मैं भी देखता हूं। दुधमल बल खाकर बोला

मैं भी देखती हूँ। महाराजा को दिलासा तो तूने बहुत दी है परन्तु वह तेरी आशा किस तरह फली भूत होगी यह न समझना कि यहां महेता है और महेता के माफिक ठण्डी ताक्कत से काम लिया जायगा यहां तो तुरत-फुरत मजा चखा दिया जाता है। इतना कह कर ऊपर से एक लात मारी और वहीं बन्धा हुवा छोड़ कर सरयू अपने अश्वपर चढ़के पाटण की तरफ चलदी सरयू एक क्षत्रिय कन्या हैं यह बड़ी ही हिम्मत वाली है। पहले तो यह और इसका बड़ा भाई धनपाल दोनों ही शान्तु

महेता के पक्के शत्रु थे इसके भाई धनपाल को तो महेताजी ने मारा था यह भी मौका देख कर महेता का खून करने के प्रयत्न में थी परन्तु महेता जी के दीर्घायु एवं-तप तेज के आगे वैसा न कर सकी यानि इसकी हिम्मत नहीं पड़ी। धनपाल के मरने के बाद यह अकेली रह गई थी। एक समय-सरयू भरूच्च में मदनपाल ठाकुर के चूंगल में फंस गई थी वह अपनी दुर्भावना इससे पूरी करना चाहता था यह उसे नहीं चाहती थी-अन्त में महेताजी की मदद से छुटकारा पाई तब से उनके पास ही उन की वफादार होकर रहती है और महाऽमात्य के कई अगत्य के कार्य करती थी-सरयू-महाऽमात्य की विश्वास पात्री थी। महाऽ-मात्य इसे पिछली खबर लाने को छोड़ गये थे सो दुसरे रोज सायंकाल होते होते पाटण पहुँच तो गई परन्तु अधिक थकने के कारण कमरे में जाकर सोगई-जसमा को उस बात की सूचना करना भूल गई। परिश्रम के कारण ऐसी नींद आई कि प्रातः काल हो गया-और महाऽमात्य के पुत्र पुत्री वयजू एवं देवल हाहु करने लगे कि बड़ी बहन आगई बड़ी बहन आगई तब शोर गुल से नींद खुली। सरयू के आगमन के समाचार महाऽमात्य को मिलते ही वे तुरन्त आये और सरयू से पिछा सब वृतान्त जान लिया।

आपने जसमा को सूचना करा दी है न ? सरयू ने पूछा कल सब व्यवस्था करके ही आया हूँ। महाऽमात्य ने जबाब दिया।

क्या व्यवस्था की है ? सरयू ने पूछा

कल के कल रात ढलने पर चूपचाप विदा होजाय-सो-वे लोग तो रवाने हो गये होंगें और कितनी ही दूर निकल गये होंगें।

महेता जी ने कहा।

तपास कराई ? फिर सरयू ने पूछा।

मैंने आंवड को कह रखा है अभी आता ही होगा।

महाऽमात्य ने कहा

इतने में आंबड आया और महेता जी ने पूछा

क्यों गये न ? जवाब नहीं मिला क्यों ? महेता जी ने पूछा

जसमा गुम हैं आंवड ने उत्तर दिया

क्या कहता है ? महेता जी ने आश्चर्य प्रकट किया

कल रात्रि में वे लोग तैयारी नहीं कर सके फजर में निकलने की तैयारी करते थे कि अचानक कोई जसमा को उड़ा कर ले गया ओड़ लोगों ने अभी ही मुझे कहा है। आंबड ने कहा

तब तो बाजी हाथ से गई ? परन्तु ठीक है। सरयू चावड़ा को तो बांध ही आयी है इस लिये वदला ले सकेंगे।

महेता जी ने अपना विचार प्रकट किया।

परन्तु दुधमल चावड़ा तो यहां ही है। आंवड ने कहा

क्या कहा ? सरयू बीच में ही बोल ऊठी

बड़ी फजर ही मैं ने राज्यमढ़ में उसे देखा है।

आंवड ने जवाब दिया।

तब तो मैं ही जाऊं ? कह कर महाऽमात्य जाने को तैयार हुए और दिवान खाने के बाहर पैर रखा इतने में तो ओड लोगों ने आकर महेता जी को घेर लिया और ओडलोगों का नायक टीकम ओड बोला—

माँ बाप ! आपका कहना नहीं माना-रात को तैयार नहीं हो सके देरी हो गई दिन उगते २ रम्भा बहन के नाम से कोई छल करके उसे ले गया। वह भी रम्भा बहन के नाम से धोखे में आगई और साथ होंगई। वहां तपास कराई तो खबर मिली कि यहां तो किसी ने नहीं बुलाया और न वह आई।

महेता जी और आंबड भाई सब परिस्थिति को भांप गये और उनको विश्वास देकर दरबार गढ़ में गये

ग्रहण करने योग्य शिक्षा

१ राजकीय प्रवृति ऐसी है जिसमें अनेक प्रकार की सावधानी रखनी पड़ती है और ऐसे मनुष्य रखने पड़ते हैं जिससे वास्तविकता का पता चल जायँ। २ प्रपंची लोग इस बात की प्रतिक्षा करते रहते है कि कोई मौका मिले और हम अपना पासा सीधा करें इससे चाहे किसी का अहित ही क्यों न होता हो। ३ जो लोग साहसिक और हिम्मत बहादुर हैं वे किसी को प्रपंची के प्रपंच का शिकार नहीं होने देते वे अपनी शक्ति भर छुड़ाने और प्रपंची को शिक्षा करने में पीछे नहीं हटते पर अपनी जान जोखम में डालकर

भी निर्दोष की सहायता करते हैं —जो सर्यू के वर्णन से ज्ञात हुवा होगा ४ किसी हितैषी के कथन पर ध्यान न देकर गफलत करने का व. विषम वातावरण में किसी पर विश्वास करने का कैसा दुश्परिणाम होता है वह ओड लोगों और जसमा के वर्णन से ज्ञात हुवा होगा ऐसे समय में पुरी सावधानी रखनी चाहिये।

९
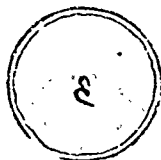
कसौटी और मुक्ति

मत्तेभकुम्भदलनेभूविसान्तिशुरा :
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेपिदक्षा: ॥
किन्तुब्रवीमिवलिनांपुरत:प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलनेविरलामनुष्या: ॥

(भर्तृहरि श्रृंगार शतक.)

भावार्थ—उन्मत्त हाथी के मस्तक को विदारने वाले शूर इस पृथ्वी पर अनेक हैं और प्रचण्ड सिंह के मारने में दक्ष योद्धा भी कितने ही हैं परन्तु हम बलवानों के आगे हठ करके कहते हैं कि

कामदेव के मद का दमन करने वाला कोई विरला ही मनुष्य होगा।

मदन का वेग इतना बलवान है कि इसे रोकने के लिये बड़े बड़े योद्धा भी समर्थ नहीं हैं। वे भी स्त्री के स्वाभाविक हाव भाव से आकर्षित होकर रणभूमि से वापिस चले आते हैं। महाराज सिद्धराज भी जसमा के आकर्षण से खींचे हुवे पाटण आ पहुँचे हैं। और हर उपाय से उसे अपनी बनाने के लिये क्या क्या प्रयत्न करते हैं और अन्त में वह कैसे छुटकारा पाती है सो इस प्रकरण में दिखाई देगा।

आज पाटण का वातावरण उग्र बन रहा है महाराजा सिद्ध-राज पाटण आ पहुँचे है और आज प्रातःकाल ही महाराजा ने दरबार के अन्दर आते ही महाऽमात्य का अपमान किया मालवा के राजा के सामने युद्ध का मोरचा न लेकर दंड की रकम देने के अभियोग में महेताजी को महाऽमात्य पद के अयोग्य ठहराये। महेता न हो तो भी मैं अपना राज्य संभाल सकूंगा ऐसा जाहिर किया। इस प्रवृत्ति से पाटण की जैन और जैनेतर प्रजा आवेश में आ गई थी परन्तु सिद्धराज को पाटण की प्रजा की इस समय दरकार नहीं थी। तुरन्त ही दरबार से निवृत होकर वह सीधा राज्यगढ में आये। और भोजन करके तुरन्त ही दिवानखाना में पहुँचे।

पहरेदार को हुक्म दिया कि मेरे से पूछे बिना किसी को अन्दर न आने देना।

जी ! परन्तु महेता जी आवें तो ? पहरेदार ने पूछा

इन्कार कर देना महाराजा ने जवाब दिया

और बा (राज्यमाता) पधारें तो पहरेदार ने दुबारा पूछा

तो भी इन्कार कर देना महाराजा ने स्पष्ट कहा

पहरेगीर चुप हो गया ।

दिवानखाने में प्रवेश करके चाबी लेकर पास के कमरे की तीसरी कोटड़ी खोली कि—खुलते ही अन्दर वाली व्यक्ति चमकी और कोने में खड़ी होगयी ।

जसमा । सिद्धराज ने अन्दर जाते ही उस व्यक्ति को सम्बोधन करके कहा

महाराज वहीं खड़े रहिये ।

सारी रात के अडिग निश्चय को लेकर जोश में बोली

उसके निश्चय बल से उसका सौन्दर्य भी खिल उठा था । ताकत और सौन्दर्य दोनों कि सौरभ कमरे में मघ मघा उठी फिर वह बोली–जो आगे बढ़ोगे तो आप नहीं या मैं नहीं ।

जसमा ? सिद्धराज धीरे से बोले

उनके बोलने में कोमलता व नम्रता थी ।

महाराज ? यह आशा ही छोड दीजिये आपकी मुराद पार पडने की नहीं है

जसमा ने स्पष्ट कहा ।

जसमा तू देख तो सही मेरा दरवार कैसा भव्य है ये महल

कैसे बने हुए हैं। और कैसे अच्छे यह बाग बगीचे हैं। ये सब तेरे हैं। और तू इनकी स्वामिनी बनेंगी।

महाराजा ने लालच द्वारा अपना काम बनाने के लिये कहा।

महाराज! जंगल के प्राकृतिक दृश्य के सामने आपके ये बागबगीचे सब धूल हैं। जिस तरह सूर्य के सामने तारे कान्तिहीन हो जाते हैं वैसे ही प्राकृतिक जंगल के दृश्य के सामने बागबगीचे भी कुछ नहीं है। जो जंगल में नहीं रह सकता हो वह भले ही बाग में रहे। मुझे तो इन बाग और महलों की जरूरत नहीं है।

जसमा ने स्पष्ट उत्तर दिया।

जसमा! तू अभी भडकण बालद की तरह है तेरे में सोचने-विचार ने और अपना लाभालाभ देखने की शक्ति नहीं है। इन महलों में तुझे मृदंग के मीठे सुरीले स्वर और गायन की मधुर तान-सुनने को मिलेगी।

महाराजा ने महल के सुखों का सुन्दर चित्र खींचकर दिखाया।

महाराज! आपके गायन और बाजो में विष भरा है मेरा मन ऐसे विष भरे गायन और बाजे में नहीं लगता-मेरा मन तो जंगल में रहने वाले मोर पपीहे और कोयल की आवाजों से ही प्रसन्न रहता है मेरे कान तो इन्हीं की प्राकृतिक टेर सुनने के अभ्यासी बन रहे हैं।

कोयल को चाहे सोने के पिंजरे में रखे और अच्छे से अच्छा

खाना दें फिर भी वह उसमें प्रसन्नता का अनुभव नहीं करती, वह तो जंगल में स्वतन्त्र रह कर ही रहेगी पिंजरे में नहीं।

जसमा ने निर्भीकता से जवाब दिया।

जसमा ! तू ऐसे मोटे कपड़े (जाड़े कपड़े) पहने को नहीं जन्मी है तेरा बदन तो ये राजशाही रंगीले व चमकीले और महीन कपड़े की पोशाक व हीरे जवाहिरात या मोती के दागिनों से ही सुशोभित होता है। मुझे तेरे इस सुकुमाल बदन पर ऐसे ढाटड़े देखकर दुख होता है तू महल में चलकर वहां की छटा तो देख।

महाराज ने फिर वैसा ही पासा फैंका।

महाराज ! मुझे न तो बारीक रंगीले चमकीले कपड़े ही चाहिये न हीरा मोती ही ये तो आपकी रानियों के बदन पर ही अच्छे लगते हैं। मेरे को तो ये मोटे जाड़े कपड़े और जंगल में पैदा हुए घास की माला व ऐसे ही जंगली आभूषण पसन्द हैं जिसमें मेरा धर्म कर्म कायम रहे और मेरे पतिदेव भी मुझ पर प्रसन्न रहें। मुझे हीरा मोती के दागिने और बारीक वस्त्रों की जरूरत नहीं है।

जसमा ने निर्भीकता से उत्तर दिया।

जसमा कहां सूखी लूखी रोटी खाने और बदन को बिगाड़ने में पड़ी है जरा विचार तो कर मेरे महलों में चलकर देख वहां तेरे लिये अनेक तरह के मेवामिष्टान और रसवती (भोजन) तैयार है जिससे कि तेरा यह शरीर दीप उठे। वहां बहुत से दास दासी

तेरे हुक्म में हाजिर रहेंगे और तू राजरानी ....

महाराजा को अटकाकर बीच में ही जसमा बोल उठी महाराज। आप जरा विचार करके बोलें महल और वहां की सुख सायबी तो आपकी रानियों के लिये ही है ओडराणी के लिये तो झोंपड़ी भली और धरती। महाराज मैंने तो घाट खा रखी है मेरे पेट में पकवान पच भी नहीं सकते मेरे लिये तो राब व दलिया ही अच्छा है। मेरे को किसी दास दासी की जरूरत नहीं है मैं तो खुद दासी बनकर मेरे पति देव की सेवा करती हूँ और प्रसन्न रहती हूँ। जसमा ने स्पष्ट सुना दिया

तब तू नहीं मानेगी ? साम दाम उपाय का प्रयोग कर के महाराजा ने देख लिया कि यह यों नहीं मानेगी इस लिये दन्ड नीति अख्त्यार करने का निश्चय किया इतनेमें महाराज ? आप पिता तुल्य है प्रजा के रक्षक हैं गुर्जर सम्राट् को ऐसा करना . . . . . बीचमें ही जसमा को अटकाकर

जसमा—यह सुनने का मुझे अवकास नहीं ऐसा तो मैंने बाहर बहुत सुन रखा है यदि तू हां कहे तो आनन्द से महल के अन्दर रखने को मैं तैयार हूँ और इन्कार करे तो मेरा विचार तो फिरने का है नहीं तू सीधी तरह स्वीकार नहीं करे तो बल से तुझे स्वीकार करना हीपड़ेगा महाराज बोल उठे

अपना बल आप आजमा लीजिये मैं भी देखती हूँ कि आप बल द्वारा केसे स्वीकार कराते हैं जसमा ने भी हिम्मत से जबाब दिया

इसका परिणाम क्या आवेगा ? तुझे खबर है ?

महाराज ने व्यंग में कहा।

हां अधिक से अधिक तो रक्तपात

जसमा ने भी रुखाई से जबाब दिया।

रक्तपात नहीं परन्तु तेरा पात।

महाराजा ने जोस में आकर कहा।

महाराज। यह विचार अमल में लाते २ तो आपको आकाश पाताल एक करना पड़ेगा-हम लोग गरीब हैं इससे क्या हुआ ? मनुष्य तो हैं। आप जितने मानापमान का ध्यान रखते हैं उतना ही हम रखते हैं आप जितनी ही इज्जत आबरू एवं धर्म की भावना हमारे में भी है। आपने यह सोच रखा है कि गरीबों का क्या मूक-पशु है जब चाहा तब मन माना उपयोग कर सकते हैं परन्तु इसमें आप भूलते हैं मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप समझें, नहीं तो आपकी भूल राज्य को हानि प्रद बनेगी। जसमा ने वीरता पूर्वक अपना मन्तव्य सुनाया।

मैं समझूंगा तब तकतो तूं पाटण की पटरानी बनजायगी।

महाराजा ने भी व्यंग में ही कहा।

महाराज। इस विचार को तो आप अपने हृदय में ही रहने दीजिये पाटण की पटरानी तो आपको दूसरी ही सोधना पड़ेगा कहकर जसमा दरवाजों की तरफ जाने लगी। हैं सिद्धराज ने कमरे के बाहर नजर डालते हुए कहा तूं सीधी तरह नहीं मानेगी न!

सीधी या बांकी किसी भी तरह नहीं। जसमा ने स्पष्ट कहा।

तब मैं देखता हूं महाराजा बोले।

और मैं भी देखती हूँ। जसमा ने भी वैसा ही उत्तर दिया।

तुझे खबर है कि तू निः शस्त्र है।

महाराजा ने उसका बल देखने के लिये कहा।

परन्तु मेरे पास भी बड़ा शस्त्र है-और वह मनोबल का

जसमा ने बल प्रकट किया।

तब तेरे मनोबल को मुझे देखना पड़ेगा ? महाराजा ने कहा।

देखो। कह कर जसमा सिद्धराज से एक तरफ होकर आगे बढ़ी।

बस यही तेरा मनोबल है न ? कहते हुए आगे आकर महाराजा ने जसमा का हाथ पकड़ लिया।

जसमा एकदम घबराई और बुममारी-तथा सिद्धराज को धक्का देकर आगे बढ़ी परन्तु पीछे से उसका हाथ खिंचा गया इतने में आवाज आई। महाराज इसे मत छूना।

कौन ? सिद्धराज आवाज की दिशा की तरफ देखकर चमका और कहा मेहता ?

जी महेताजी ने जवाब दिया।

बिना इजाजत के ही। महाराज ने कहा।

जी मुझे किसकी रजा लेने की हैं ? कहते हुए महाऽमात्य

मेहता जी बिलकुल सिद्धराज के पास ही आकर खड़े होगये। जसमा एक तरफ खिसक कर खड़ी होगई।

महेता के अचानक आ जाने से महाराजा एकदम लज्जित से होगये। अधिक बोलने की हिम्मत न रही हाथ-पैरों में धूजणी छुटगई कोई हिम्मत बंधावे ऐसा वहां था भी नहीं।

जसमा जल्दी बाहर निकल· महाऽमात्य ने कहा।

जसमा ने महेता जी के सामने देखा और महाराज के सामने भी नजर पड़ गई वह काँपने लगी-

डरेमत। मैं हूं वहाँ तक तेरे सामने कोई आँख उठा कर भी नहीं देख सकता जा बाहर तेरी राह देख रहे हैं।

महाऽमात्व ने जसमा को हिम्मत दी।

जसमा आगे बढ़ी-महेता जी भी पीछे-पीछे चले। सिंह गाजे इतनी शक्ति सिद्धराज की जीभ ऊपर आई परन्तु वह उसी समय विलीन होगई। मुँह बिलकुल सीं गया। जीभ तालवे से निकलती ही नहीं।

जसमा बाहर आई-महेता जी उसको राजगढ़ की ड्योढी तक आकर पहुँचा गये और पीछे दिवानखाना में आकर खड़े होगये थे। अब उनकी आँखें वहां मुंजाल महेता को देखने के लिये उत्सुक थी-परन्तु वह कहीं भी नहीं मिला यदि वह मिल गया होता तो महाऽमात्य उसे अच्छी तरह फटकारे बिना न रहते।

जिस समय महाऽमात्य गुजरात की सरहद पर से एकदम वापिस लौट गये थे उसी समय मुंजाल समझ गया था कि महेता जी सैन्य को छोड़ कर महाराज से बिना मिले ही लौट गये हैं सो बाजी फेर देंगे और हमने जो महाराजा को पाटण ले जाने का प्रयत्न किया है वह निष्फल हो जावेगा इससे महाराजा को तो मालवा जाने का समझा कर रवाने हुआ था परन्तु मालवा न जाते हुए वह भी दूसरे रास्ते से पाटण की तरफ रवाने हो गया था दुधमल चावड़ा भी महाराजा से पाटण आने को बिदा हुआ था वह यह समझता था कि मेरे पाटण की तरफ रवाने होने की खबर किसी को नहीं है परन्तु तम्बू के पीछे छिपी हुई सरयू ने महाराजा और दुधमल की मंत्रणाएं सुनली थीं इससे वह भी गुप्त रीति से पहले ही रवाने हो गई थी और मौका पाकर दुधमल को रास्ते में ही बाध कर पटक के पाटण पहुँच गई थी परन्तु जसमा को सावचेत करना भूल कर थकी हुई अपने शयनागार में जाकर सो गई थी मुंजाल महेता थोड़ी दूर तक तो मालवा के रास्ते पर गया परन्तु विचार बदल जाने से वह आडे रास्ते पड़ा था कारण महाराजा की छावणी से बचना था और किसी के मिल जाने का भी भय था। दूसरे रोज दुधमल जहाँ पर पड़ा हुआ था वहीं पर आ निकला दुधमल को पहचान कर अश्व पर से उतर करके कटार से उसके बन्ध काटे और दोनों पीछे घोड़े पर सवार होकर जल्दी से उसी रात को पाटण पहुँच गये। दुधमल ने पाटण-आकर मालुम किया तो ज्ञात हुवा कि ओडलोग जाने की तैयारी

कर रहे हैं पर अभी गये नहीं। दुधमल ने शीघ्र ही ओड लोग जाने लगे उस से पहले ही जसमा की वहन रम्भा के नौकर को बनाकर तुम्हें रम्भा बहन बुलाती है ऐसा उसे भेज कर कह लाया और जसमा को आते ही कब्जे में करके दिवानखाने के कमरे में बन्द कर दी थी।

महाराज सिद्धराज भी आराम किये बिना ही एक दम पाटण पहुँच गये थे और आते ही प्रातःकाल दरबार करके पहले तो महाऽमात्य महेताजी का अपमान किया था और बाद दरबार बरखास्त कर के दिवानखाना में आये थे महाऽमात्य महेताजी चाहते तो उसी समय दरबार में ही महाराजा को जैसा का तैसा जवाब दे सकते थे परन्तु उस समय उन्होंने कुछ नहीं किया सब मानापमान को पी गये कारण उनको जसमा का उद्धार करना बाकी था सो इस जगह महाराजा के पंजे से छुड़ा कर उसका उद्धार किया।

जसमा पाटण शहर को अन्तिम भेंट करके पाटण से आगे बढ़ रही थी। आवँड सरयू ओड़ रम्भा उसे दूर तक पहुंचा कर वापिस लौट आये। ओड़ लोग उसके साथ आगे बढे जा रहे थे।

ग्रहण करने योग्य शिक्षा—

१ जब मनुष्य कामांध हो जाता है और वैसे ही अनुकूल साधन या साधक मिल जाते हैं तब वह क्या अनर्थ नहीं करता और उसमें विघ्न पड़ता दिखाई देने पर उन नेक नियत, खैर

ख्वांह और गुरूजनों के साथ भी कैसा दुर्व्यवहार करता है सो महाऽमात्य का महाराजा के दरबार में किये हुए अपमान से स्पष्ट होता है। २ कामान्ध मनुष्यों को अपना हित चाहने वाले सज्जन भी शत्रु से लगते हैं और लुच्चे बदमाश आफत में फसाने वाले दुर्जन लोग अत्यधिक प्रिय लगते हैं इससे वह सज्जनों का निरादर और दुर्जनों का आदर करता है और अपने आपको पतन के गव्हर में डालता है ३ कामान्ध मनुष्य अपनी लालसा पूरी करने के लिये साम दाम दंड भेद से सती पवित्रात्मा स्त्रियों को कैसे २ कष्ट में डालकर उनको प्रलोभन व भय दिखाता है परन्तु जो धर्म तत्व को समझने वाली पवित्रात्मा स्त्रियें होती हैं ऐसे समय में भी निडर होकर अपने धर्म पर अडिग रहती हुई उन कामी मनुष्यों के दबाव में नहीं आती और अपने आत्म बल का परिचय देती है यह महाराजा सिद्धराज एवं जसमा के सवाल जवाब से स्पष्ट है। ४ जो लोग नीतिमान एवं परोपकारी होते हैं वे अपने मानापमान तथा पद रक्षा की परवाह न करते हुए अपने प्राणों को जोखिम में डालकर भी निर्बलों की रक्षा करने के लिये पहुँच जाते हैं और वहां से उनका उद्धार कर उन्हें सहिसलामत उस आपत्ति में से छुड़ा लेते हैं यह महाऽमात्य शान्तुमहेता की साहसिकता स्पष्ट करती है ५ स्वार्थि लोग अपना स्वार्थ साधने एवं अपने स्वामि के कृपा पात्र बनने के लिये कैसे २ अनर्थ करते हैं और निर्दोष मनुष्यों को फंसाने की चेष्टा करते हैं यह मुंजाल महेता एवं दुवमल चावड़ा के वर्णन से विदित होता है।
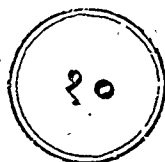
जबाबदारी और पद त्याग

यद् चेतनोपिपादै," प्रेष्टप्रज्वलातिसावितुरिनकान्तः ॥
तत्तेजस्वी पुरुषःपरकृत विकृतिंकथंसहते ॥ १ ॥

(भर्तृहरि नीतिशतक)

भावार्थ—सूर्य्य क्रान्तमणि सूर्य्य के पादस्वरूप किरणों के लगते ही जल उठती है इसी तरह तेजस्वी स्वाभिमानी पुरुष भी परकृत विकृति को कैसे सहन कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं।

महाराजा सिद्धराज ने अपने स्वार्थ में बाधक बनने के कारण पूर्व के सब उपकारों और सेवाओं को भूल कर गुर्जर महामन्त्री

वयोवृद्ध शान्तुमहेता का अपमान करके उससे महामात्य पद सूचक चिन्ह छीन लेने की चेष्टा की तब महेताजी ने भी अपना पुरुषार्थ दिखाते हुए राज्य क्या वस्तु है और उस के जवाबदार कौन २ है। यह सच्ची स्थिति समझाने की जो वीरतापूर्ण चेष्टा की है वह और प्रसंग पाते ही पद त्याग करके किस प्रकार दूर होगये आदि इस प्रकरण में दिखाई देगा।

महेता ? दिवानखाना में आकर खड़े होते ही सिद्धराज बोले

महेताजी के आजाने से महाराजाके मनोरथ सब धूल में मिल गये और जसमा हाथ से चली गई इसलिये महाराजा की भ्रकुटी चढ़ी हुई थी और तूफान का कड़ाका इस शब्द में था। तूफान आने का है यह महेताजी पहले ही जानते थे और उसका मुकाबिला भी करना पड़ेगा यह भी वे जानते थे इसलिये महाऽमात्य ने भी हिम्मत पूर्वक जवाब दिया जीराज्य मैं चलाता हूं तू नहीं ? महाराजा ने कहा।

यह तो पाटण का छोटे से छोटा बच्चा भी जानता है, महेताजी ने वैसा ही गम्भीरता से जवाब दिया।

फिर ? महाराजा ने प्रश्न किया।

आपको भी एक बात खास याद रखनी चाहिये।

महाऽमात्य ने उत्तर दिया।

कह। महाराजा ने आज्ञा दी।

राज्य आप चलाते हो परन्तु वह हमारी मदद से ही न कि स्वयं। महाऽमात्य ने सार बात कही।

तब तू नहीं हो तो पाटण का राज्य नहीं चल सके, क्यों ?

महाराजा ने जोश में आकर पूछा ।

चल सकेगा परन्तु हमारे जैसे राज्य के अमलदारों से ही अकेले तुम्हारे से नहीं छोटे सैनिक से लेकर मंत्री तक के सहकार से ही चलेगा ।

बस । तब मैं संभाल लेऊंगा-मेरे कार्य के अन्दर बीच में पड़ने वाला तूं कौन ? महाराजा ने गुस्से में कहा ।

मैं ? मैं गुर्जर राष्ट्र का महामंत्री महेताजी ने भी रोब से कहा

यह मैं मानूं वहां तक न ? महाराजा ने राज्य रोब से कहा

हरगीज नहीं । तुम्हारे से भी अधिक सामर्थ्य इस वृद्धावस्था में भी मेरी भूजा में है परन्तु इस वृद्धावस्था में मैं-स्वर्गस्थ महाराजा कर्ण का विश्वासघाती नहीं होना चाहता हूँ नहीं तो-तुम को दिखला दूँ कि कौन किसके आधार पर है । महाऽमात्य पद का मुझे जरा भी मोह नहीं है अलबत्ता मोह है तो महागुजरात की जमावट का उसमें विध्न देखूं तो आज का आज पाटण की प्रजा को पुकार कर तुम्हारे विरोध में खड़ी करके गद्दी से हटा सकता हूँ परन्तु यह काम मेरा नहीं न होना ही चाहिये ।

महाऽमात्य ने निर्भीकता से कहा ।

अर्थात् महाराजा ने प्रश्न किया

अर्थात् । चाहूँ तो आज का आज मेरे अपमान का बदला ले सकता हूँ समझे ? महेताजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा

हूं— महाराजा ने जोश में आकर कहा

आप समझते हो कि गुजरात का राज्य महाराजा सिद्धराज से ही चलता है तो ऐसी भूल कभी नहीं करना यदि भूल करोगे तो उस रोज गुजरात महा गुजरात नहीं रहेगा परगुलाम और परतन्त्र बनेगा।

महेता। मुझे यह कुछ भी सुनने का अवकाश नहीं है तुम्हारा यह लम्बा भाषण पाटण की प्रजा को सुनाना मैंने खुलम खुल्ला कहा है और कहता हूं कि महाऽमात्य पद के योग्य तुम नहीं हो और कदाचित हो तो भी मैं नहीं चाहता हूँ।

महाराजा ने स्पष्ट शब्दों में हुक्म सुनाया।

महाराज मेरी भी यही इच्छा है और मैं भी इस जबाब दारी को छोड़ाना चाहता हूँ परन्तु राज्य के घमण्ड में आकर आप यह पद मुझ से छोड़ना चाहते हो तो यह जबाबदारी ऐसे नहीं सोंपी जाती। यह जबाबदारी सोंपी जायगी पाटण की प्रजा को न कि महाराजा सिद्धराज को।

महाऽमात्य ने वैसी ही गम्भीरतापूर्वक जवाब दिया।

देख लेता हूँ मैं कि किस ताकत के बल पर यह पद तू नहीं छोड़ता है। सिद्धराज मर्यादा छोड़ कर बोले।

महाराज सभल कर बोलना महेताजी ने भी क्रोध में आकर कहा।

सभंल कर बोलूं तू या मैं। महाराजा ने तेजी से कहा—

तुम्हारे को— महाऽमात्य ने भी उग्रता से जवाब दिया।

तो महाऽमात्य पद सूचक राज्य चिन्ह इसी समय मेरे सुपुर्द हो जाने चाहिये। महाराजा ने फरमान किया

अब यह नहीं हो सकता। महाऽमात्य ने भी वैसा ही मजबूत जवाब दिया।

सेवा की कदर करके मुदत तक एक की एक जगह ही जवाब दारी सौंप रखी इसका लालच लगा है क्यों ? कहकर महाराजा ने पहरेदार को आवाज दी।

जी कहता हुआ पहरेदार हाजिर हुआ।

महेता को गिरफ्तार करलो महाराजा ने हुक्म दिया

पहरेदार कुछ आगे बढ़ा किन्तु तुरन्त ही दो पांव पीछे हठ गया महेताजी के मुंह पर से निकलते हुए अपूर्व तेज पुंज के आगे बिचारे पहरेदार की क्या ताकत ? जो आगे बढ़े महाराज। महेताजी के बदले मुझे बन्दी बना लीजिये।

पहरेदार ने अर्ज की

अब तो सिद्धराज का क्रोध अधिक भड़क उठा और आवाज दी कोई है हाज़िर ?

आवाज सुनते ही अनेक मनुष्य हाज़िर हो गये और राज्य गढ़ की गढ़ी पर का नायक (कप्तान) भी हाज़िर हुआ दास दासी भी आ गये और पहरा देने वाले अनेक सैनिक भी खड़े हो गये महेता को पकड़ कर महासात्य सूचक राज्य चिन्ह इसके पास से लेलो।

महाराजा ने उग्रता पूर्ण हुक्म सुनाया

सुनकर सब के सब स्तब्ध रह गये कोई भी हिला या चला नहीं राज्यगढ़ के अन्दर कोलाहल मच गया वातावरण ही बदल गया और कोई उल्कापात होता हो वैसा भयंकर द्रश्य सब को

लगा जिस का निवारण करना किसी से भी शक्य नहीं था किसी में कोई भी रास्ता ढूंढ निकालने की सामर्थ्य नही थी सबको अपनी बुद्धि अल्प लगती थी।

इतना अधिक जोर ? कह कर सिद्धराज खुद ही आगे बढ़ा अब तो मुझे ही हाथ उठाना पड़ेगा।

महाराज ! वहीं खड़े रहिये महाऽमात्य ने भी जोश में आकर कहा.

तूं मुझ पर हुक्म नहीं करे तो फिर करेगा ही कौन ? कहते हुवे महाराजा महेता के बिलकुल निकट पहुँच गये।

महाराज फिर भी कहता हूँ कि वहीं खड़े रहो महेताजी ने कहा और सिद्धराज के पांव एकदम थंम गये महेताजी की किसी अद्रश्य शक्ति ने महाराजा को वहीं पर स्थिर कर दिया जहां खड़े थे।

अचानक वातावरण पलटा खागया सभा में शान्ति छा गयी राज्य माता मीनलदेवी एकदम दौड़ते २ दिवान खाना में आकर खड़ी होगई और पूछा सिद्धराज यह क्या कर रहा है ?

रमत। बेपरवाई भरे जवाब से माता का सत्कार हुआ

जब मनुष्य गुस्से में आ जाता है और आपा भूल जाता है तब उसे कुछ नहीं सुझता वह चाहे सो बोल देता है।

रमत ? राज्यमाता ने सवाल किया

हां मुझे महेता नहीं चाहिये महाराजा ने माता से कहा

तब ? राज्यमाता ने प्रश्न किया

मैं किसी को भी सोध लेऊंगा महाराजा ने जवाब दिया

कारण ?

राज्य माता ने पूछा

मेरा अपमान

महाराजा ने कहा

अपमान मेरा कि तुम्हारा ? महेता जी बीच में ही बोल उठे

महेता जी ? शान्त होवो यह बालक है राज्य माता बोली

बालक नहीं परन्तु राजा हूँ महाराजा ने माता को स्पष्ट सुनाया

शान्त ।

राज्यमाता ने महेता को कहा

शान्त होने का हो तो अब दुसरे भव में महेताजी ने राज्य माता को जबाब दिया परन्तु तुमको देखता हूं और मेरा मन उल्कापात पर चढ़ा हुआ हो तो भी शान्त हो जाता है वहन ? तुम न आई होती तो पाटण का पुण्य आज परवार गया होता आज महाराजा को खबर पड़ जाती कि पाटण की गद्दी पर इनकी जरूरत केवल शोभा पूर्ति है बाकी राज्य तो जबाबदार व्यक्तियों से ही चलता है।

वहन । तुम्हें देखता हूँ और स्वर्गीय महाराजा कर्ण याद आते हैं और उनके अन्तिम शब्द भी याद आते हैं तथा तुम्हारी वह करूणान्त मूर्ति भी भाई को बान्धते वख्त की याद आती है यह महाऽमात्य पद के सूचक राज्यचिन्ह तुम्हारे चरणों में भेंट करता हूँ पाटण का महाऽमात्य पद अब मुझको नहीं चाहिये । महेताजी ने उसी गम्भीरता से राज्यचिन्ह राज्य माता के सामने रख दिये पर है क्या ?

राज्यमाता ने प्रश्न किया

कुछ नहीं । मानापमान को तो निगल गया हूँ और फिर भी हजम कर जाता हूँ-स्वर्गस्थ महाराजा कर्ण के नाम के नीचे फिर

भी मैं महाराजा को कह जाता हूं कि "जसमा" यों नहीं मिल सकेगी पाटण की प्रजा यों समझती है कि आज महाराजा ने जसमा ओडण की आबरू लेने का इरादा किया है तो क्या कल पाटण की प्रजा की ही बहन बेटियों की आबरू नहीं लें इसकी खातरी क्या? इसलिये पाटण पर राज्य करना हो तो अब भविष्य में ऐसे मनोरथ कभी न करें।

कौन जसमा? मीनलदेवी स्तसाब्ध हो गई।

हां अभी ही उसे महाराजा के पंजे से छुड़ाकर यहां से उस के देश की तरफ मैंने रवाने की है। उसी के लिये तो युद्ध में गये हुए महाराजा यहां आये हैं। महेता जी ने स्पष्टी करण किया परन्तु इस बात की अब मुझे क्या दरकार है। बहन मैंने तो कल का ही निश्चय कर रखा था कि यह महाऽमात्यपद की जोखम दारी अब मुझे नहीं चाहिये। और प्रभात-तक तो पाटण में मेरी उपस्थिती भी नहीं रहेगी। महेताजी ने पीठ फेर कर ही यह वाक्य पुरा किया था और आगे बढ़े सो सबके देखते २ ही चले गये।

मीनलदेवी ने आवाज दी महेता?

परन्तु महेता ने जरा भी ध्यान नहीं दिया बुमें मारने पर भी पीछे नजर तक नहीं की जैसे एक परिग्रहधारी व्यक्ति अपरिग्रही होकर जंगल में जाता हो। महेता जी ने भी पाटण ही नहीं परन्तु पाटण और सारी गुर्जर भूमि को त्याग दी हो इस प्रकार पाटण में होते हुए भी उपेक्षित बन गये। उन्हें अपने निश्चय से डिगाने को कोई समर्थ नहीं हुआ और दुसरे रोज प्रभात होने से पहले

ही पाटण से विदा होगये राज्यमाता व पाटण की प्रजाके आगे वानों ने बहुत कुछ कहा परन्तु महेता जी ने अपने निश्चय को बदला ही नहीं अन्त में सब हार थक कर कुछ दूर तक पहुँचा के वापिस आ गये।

ग्रहण करने योग्य शिक्षा—

१ राज्य कारोबार में राजा का मंत्रियों का सैनिक का और प्रजा का क्या सम्बन्ध है और महाराजा किस हद तक प्रजा पर या मंत्रियों पर अपना हुक्म चला सकता है, और सत्यप्रिय न्याय-परायण मनुष्य महाराजा की भी अनुचित हा में हां न मिलाते हुए नग्न सत्य सुना देते हैं और समय आने पर प्रजा के धर्म कर्म का रक्षण करने के लिये कहां तक आत्मबल पर डटकर अपनी जान को आफत में डाल देते हैं यह महेता जी के वर्णन से स्पष्ट समझ में आ जाता है—२ आत्मबल एक अपूर्व बल है, जब यह बल पूर्ण रूपेण प्रकट हो जाता है, तब इसके आगे सब बल व्यर्थ हो जाते हैं। बड़े २ शस्त्र व अस्त्राधारी भी आत्म बली का कुछ नहीं बिगाड़ सकते आत्मबली राजा महाराजाओं को भी कटु सत्य सुना सकता है उसको किसी की अपेक्षा नहीं रहती वह महान् शक्ति शाली का भी सामना कर लेता है, यह महाऽमात्य महेता जी के वर्णन में दिखेगा। ३ जहां मनुष्य आवेश में आ जाता है, वहां वह भान भूल जाता है उसे अपने पूज्यों का भी ख्याल नहीं रहता है उनके आगे भी यद्वतद्वा बोल जाता

है, और उनका अपमान कर बैठता है। महाराजा सिद्धराज भी अपनी माता के समक्ष किस प्रकार पेश आया है, यह देखिये ४ सत्य और न्याय प्रिय मनुष्यों को अपने पदाधिकार का जरा भी मोह नहीं होता वे तुरन्त छोड़ देते हैं, परन्तु उसका दुरुपयोग भी नहीं होने देते हैं, और छोड़े बाद उसके सामने भी नहीं देखते हैं।
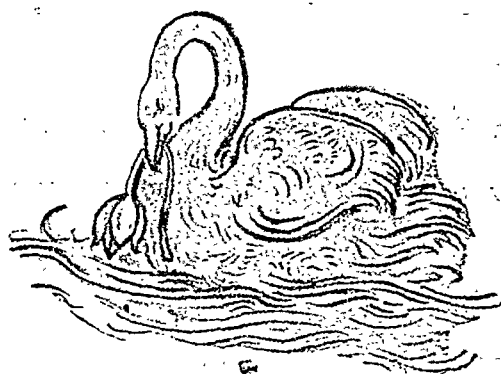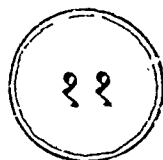
बलिदान

तावन्महत्वं पांडित्यं, कुलीनत्वं विवेकिता: ॥
यावज्ज्वलतिनाङ्गेषु, हत: पंचेषु पावक: ॥ १ ॥

(भर्तृहरि शृंगार शतक)

भावार्थ—बड़ाई, पंडिताई, विवेकता और कुलीनता ये सब मनुष्य के हृदय में, वहाँतक ही कायम रहते हैं जबकि उसके शरीर में कामाग्नि प्रज्वलित न हो-इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य कामाग्नि के प्रदीप्त होने पर सभ्यता बुद्धिमत्ता-विवेक और कृत्याऽकृत्य

का भान भूल जाता है फिर तो वह उसीके पीछे बड़े बड़े अनर्थ भी कर बैठता है और जगत में बदनाम भी होता है।

महाराजा सिद्धराज ने भी जसमा को येन केन प्रकारेण प्राप्त करने के लिये कहाँ तक प्रयत्न किया और अन्त में क्या पाया यह इस प्रकरण में दिखाई देगा।

जसमा को मुक्त करा कर अपना राज्य चिन्ह-सौंप के महेता राज्यगढ़ से चले गये तब महाराजा सिद्धराज ने ओड़ लोगों की तपास कराई तो मालुम हुआ कि-मोढेरा की तरफ आगे बढ़ रहे हैं। जिसको जिसकी लगनी लग जाती है उसको वही सुझता है दूसरा कुछ भी नहीं संध्या हुई-थोड़ी रात्रि गई कि महाराजा सिद्ध-राज थोड़े मनुष्यों (अंगरक्षकों) को साथ लेकर किसी को खबर न पड़ने देते हुए गुप्त रीति से मोढेरा की तरफ चल निकले सुर्योदय के पहले तो वे मोढेरा पहुँच गये। सामान भरे हुए गाड़े मोढेरा से आगे बढ़ते जा रहे थे। गाड़ाओं पर बैठे हुए ओड लोगों ने दूर से दस बारह घोड़े सवारों को पीछे से आते देखे। देखते ही वे चमके-चलते हुए गाड़े रुका दिये गये। किरणों के प्रकाश में गाड़ी से उतरती ओड़ स्त्री ऐसे मालुम पड़ती थी कि जैसे अप्सरा। और सबने परस्पर सलाह कर रखी हो इस तरह एक के पीछे एक कितने ही ओडलोग उतर पड़े शेष ओडलोग और बाल बच्चे व स्त्रियें गाड़ाओं में आगे बढ़ीं। गाड़े देखते-देखते अद्रश्य हो गये।

वहां रहे हुए ओडलोगों ने सशक्त या अशक्त सबने मिल कर

एक व्यूह रच लिया और व्यूह के बीच में रूप की अप्सरा जसमा को खड़ी की।

महाराजा सिद्धराज अंग रक्षकों सहित थोड़ी देर में वहाँ आ पहुँचे ओडलोगों को घेरा घाले हुए देखे जो बीच में जसमा को लिये हुए खड़े थे ओडलोगों के पास भी शस्त्र आदि थे परन्तु वे नाम मात्र के लेकिन ये सुसज्जित थे। एक आर्य महिला की प्रतिष्टा के खातिर उन्होंने अपने मरने का भय और जीवन की आश छोड़ रखी थी।

महाराजा सिद्धराज ने नजदीक आकर कहा—तुम लोग तैयार तो हुए हो परन्तु जो जीना चाहते हो तो जसमा को सौंप दो और चले जाओ किसी का बाल भी बांका नहीं होगा।

ओड लोगों का नायक टीकम ओड पहले तो धूजा किन्तु शीघ्र ही सचेत होकर उसने महाराजा का तिरस्कार किया।

सिद्धराज क्रोधित हो गये और आक्रमण करने को हुक्म दिया टपा-टप निःशस्त्र और बिना तालिम के ओड लोग धरती चाटने लगे। कितने ही साथी मरे-कितने २ भाग छूटे और अन्त में ओडलोगों का नायक टीकम भी मारा गया। जीवित रही केवल जसमा।

सिद्धराज ने तुरन्त हुक्म दिया और शस्त्र म्यान हुए।

रक्त रंजित भूमि पर जसमा खड़ी थी। सिद्धराज अश्व से उतर कर उसके सामने आ खड़े हुवे और बोले—क्यों अभी और चत्मकार देखना है?

हाँ जसमा ने निडरता से कहा।

अच्छा। सिद्धराज ने चिड़कर कहा—और सैनिकों की तरफ
ह कर के बोले तुम दूर खड़े रहो।

सैनिक लोग सब दूर जाकर गोल चक्कर के आकार में खड़े
हे, सिद्धराज बिलकुल जसमा के पास आये और बोले—

अब ? कोई है बचाने वाला महेता बहेता ?

महाराज दूर रहना जसमा ने जवाब दिया

कारण ? महाराजा ने पूछा

मैं पाटण चलने को तैयार हूँ जसमा ने युक्ति का प्रयोग किया

हं। सिद्धराज आश्चर्य मुग्ध बन गया और कहने लगा पहले
ते ही समझ गई होती तो ?

रण्डाये बाद डहापण आवे उसका उपाय ही क्या ?
जसमा ने मन में कहा

परन्तु मुझे पाटण में ले जाकर करोगे क्या ?

गुर्जर देश की महारानी ? सिद्धराज ने अपने भाव प्रकट किये

महारानी ? महारानी तो बनाना तुम्हारी रानी को मैं महारानी
बनके क्या करूंगी ? जसमा ने अपनी आँखों को स्थिर करते हुए
कहा और साथ ही महाराजा को असावधान देख कर छलांग मार
के महाराजा के हाथ से कटार छुड़ाने के लिये अपना हाथ मारा।

महाराजा सिद्धराज उसके हाथ को दूर करना चाहते हैं।
उससे पहले ही जसमा कटार ले लेती है। अब तक जो कटार
महाराजा सिद्धराज के हाथ में शोभ रही थी वही कटार जसमा
के हाथ में शोभने लगी। और वह गर्जर कर बोली। महाराज !

चमकना मत तुम्हारे सैनिकों के देखते देखते तुम्हारा खून पी सकती हुँ। इतनी मैं हिम्मत रखती हूँ। और तुम्हारे किये का बदला अभी का अभी ले सकती हूँ। परन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहती। मैं राण्ड हुई तो भले ही हुई। परन्तु गुर्जर भूमि को राण्ड बनाना नहीं चाहती। यह कहने के साथ ही जसमा ने कटार आकाश में ऊँची उठाई और बोली।

लो जिस रूप के कारण मेरा परिवार तुमने नष्ट किया है वह रूप का यह खोखा संभालो।

महाराजा उसका हाथ पकड़ने को अपना हाथ फैलाते हैं। इतने में तो कटार जसमा की छाती में पहुँच जाती हैं। जसमा के गिरते हुए शरीर को महाराजा ने संभाला। आंख खुलते ही जसमा ने महाराजा सिद्धराज को अपने पास बैठा देखा। धक्का मारकर तिरस्कार पूर्वक अपना मुंह फेर लिया। आसपास महाराजा सिद्धराज के अंग रक्षक अपना मलीन मुंह किये हुए खड़े थे। और महाराजा सिद्धराज उस कुम्हलाते हुए पुष्प पांखड़ी का सौरभ खिचने को ठण्डी सांस लेते हुवे, आंखों से मोतियों की वर्षा कर रहे थे। और अपने किये हुये का पश्चाताप कर रहे थे। कहा भी है कि—

बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हंसाय ॥ १ ॥

कोई २ कहानी व गरबी में ऐसा भी कहा जाता है कि कटार खाकर मरते मरते जसमा ने महाराजा सिद्धराज को श्राप दिया

था कि—"तेरा तालाब भरे नहीं और तेरा वंश निर्वंश जाय यह कहां तक सत्य है सो तत्व केवली गम्य है, यह भी कहावत है कि सती श्राप देती नहीं।

टिप्पणी—

१ जो मनुष्य काम के वशीभूत हो जाता है उसको वही दिखता है और उसी को प्राप्त करने के लिये विवेक को खोकर ऐसा पीछे पड़ता है कि चाहे कितना ही भयंकर पाप करना पड़े वह जरा भी नहीं हिचकिचाता उसके लिये मनुष्यों का संहार करने को भी तैयार हो जाता है जो महाराजा सिद्धराज के प्रयाण वर्णन में दिखाया है। २ सत्वशाली आत्मा अपने आत्मीय जनों का संहार हो जाने और निराधार स्थिती में आजाने पर भी धैर्य को नहीं त्यागते और मौका पाकर अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं, परन्तु किसी का अकल्याण नहीं करते जो जसमा के साहस से दिखाई देगा। ३ शत्रु को दबाकर या नाश करके कोई भी शत्रुता को नष्ट नहीं कर सकता किन्तु अपना बलिदान करने से शत्रु के दिल से भी शत्रुता नष्ट हो जाती है और वह अपने कुकृत्य का पश्चाताप करता है, यह जसमा के बलिदान और महाराजा सिद्धराज के पश्चाताप से सिद्ध है। ४ जिस कार्य का परिणाम न विचारते हुए जो उसमें आगे बढ़ता ही जाता है। उसके लिये सिवाय पश्चाताप के और क्या मिलता है। यह इस कथा से जाना जा सकेगा। इत्यलम्।